संवैधानिक परिवर्तनों के प्रति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का दृष्टिकोण और इसकी विचारधारा

(1885 – 1947)

बुन्देलखंड विश्वविद्यालय

की

पी-एच० डी० (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
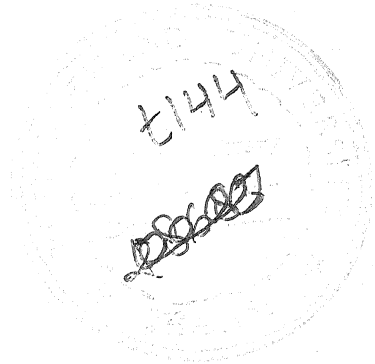
निर्देशक

डॉ० प्रेमनारायण दीक्षित

विभागाध्यक्ष-राजनीति विज्ञान

पं० जवाहरलाल नेहरु कालेज, बांदा

प्रस्तुतकर्ता

रमेश चन्द्र वाजपेयी

प्रवक्ता-राजनीति विज्ञान

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

बीसलपुर-पीलीभीत
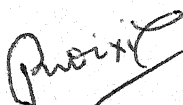
1993

Dr. P.N. Dixit
Head,
Department of Political Science,
Pt. J.N. College, Banda,

This is to certify that Mr. Ramesh Chandra Bajpai who has been working on the subject "SANVAIDHANIK PARIVARTANO KE PRATI BHARTIYA RASTRIYA CONGRESS KA DRASTIKONE AUR ISKEE VICHARDHARA (1885-1947)" for his Ph.D. Degree in Pol.Sc. under my guidance and supervision, has now completed his research work.

This is certify further -

1) That the thesis is original and embodies his own work and that
2) he has worked under my supervision for the required period from the date of application.

(P.N. DIXIT)

BANDA

प्राक्कथन

इस शोध में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विचारों और दृष्टिकोण का इस दृष्टि से अध्ययन किया गया है कि इस राष्ट्रीय संगठन ने अपने स्थापना के समय से लेकर स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक संवैधानिक परिवर्तनों के विषय में कैसे विचार प्रस्तुत किये ? जैसे ही कांग्रेस की स्थापना हुयी, इसके संस्थापकों ने प्रशासनिक तन्त्र पर ध्यान केन्द्रित करना आरम्भ कर दिया । इसके संस्थापकों ने आरम्भ से ही संवैधानिक परिवर्तन के सुझाव दिये । 1885 से 1919 तक कांग्रेस ने तत्कालीन प्रचलित संविधान को परिमार्जित करने के प्रयास किये । दूसरे शब्दों में कांग्रेस का अधिक से अधिक यही प्रयास था कि ब्रिटिश संसद व्यापक संवैधानिक सुधार करके भारत में संसदीय प्रणाली आरम्भ करे ।

एक ओर कांग्रेस ने संवैधानिक अधिनियमों को व्यापक बनाने के सुझाव दिये तो दूसरी ओर 1892 और 1909 के संवैधानिक अधिनियमों की कमियों की ओर भी ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकर्षित किया । इसके साथ-साथ कांग्रेस ने अपनी ओर से भी योजनायें प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया । गोखले, चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, ऐनीबेसेन्ट आदि राष्ट्र नेताओं ने नयी दृष्टि से संवैधानिक परिवर्तनों पर विचार किया । इन राष्ट्र नेताओं के विचारों का व्यापक विवेचन करना इस शोध का प्रमुख उद्देश्य रहा है ।

समय के साथ-साथ कांग्रेस ने संवैधानिक परिवर्तनों को व्यापक पैमाने पर प्रस्तुत किया । यही कारण है कि जैसे ही कांग्रेस के नेताओं का अवसर

मिला, उन्होंने पहले से सुविचारित संवैधानिक प्रस्तावों को संवैधानिक ढाँचे का स्वरूप प्रदान कर दिया ।

इस शोध का एक उद्देश्य यह भी है कि इसके द्वारा कांग्रेस की इस मांग की ओर ध्यान केन्द्रित करना कि भारतीय संविधान का निर्माण केवल भारतीयों द्वारा हो, विदेशी शासकों द्वारा नहीं । स्वराज दल के निर्माण से लेकर 1947 तक अनेक प्रस्तावों में कांग्रेस ने एक संविधान सभा के गठन की मांग की और यह दावा प्रस्तुत किया कि केवल भारतीयों को ही अपने देश में प्रभावी होने वाले संविधान का प्रारूप तैयार करने का अधिकार है ।

इस शोध में अलग-अलग संवैधानिक अधिनियमों के पारित होने के पश्चात् कांग्रेस द्वारा अपनाये दृष्टिकोण का अध्ययन किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की शोध अवधि में मुझे केन्द्रीय ग्रन्थालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, नेहरू मेमौरियल एण्ड लाइब्रेरी तथा सप्रू हाउस नयी दिल्ली और अन्य संस्थाओं के अधिकारियों/कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त रहा, जिसके लिये मैं इन सबको धन्यवाद देता हूँ ।

डॉ॰ जे॰पी॰ मिश्रा, प्रोफेसर इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय ने संरचना और स्वरूप को निर्धारित करने में जो भरसक परिश्रम किया, उसके लिये उनके प्रति मैं धन्यवाद प्रकट करता हूँ ।

डॉ॰ प्रेम नारायण दीक्षित विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, पं॰ जवाहरलाल नेहरू कालेज, बाँदा ने इस शोध-प्रबन्ध को तैयार करने में जो अथक परिश्रम किया है, उसके लिये आभार प्रकट करना मेरी पुनीत कर्तव्य है। यह शोध उन्हीं के निर्देशन में पूर्ण हुआ, उन्होंने समय-समय पर अमूल्य सुझाव देने की कृपा की। आदरणीय दीक्षित जी की प्रेरणा से ही यह शोधप्रबन्ध यह रूप ले सका है।

मैं अपने परिवार के समस्त सदस्यों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने शोध कार्य को पूरा करने में सहयोग दिया है।

अन्त में, सुयोग्य और यशस्वी लेखकों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूँ जिनकी पुस्तकों का यहाँ उपयोग किया गया है।

रमेश चन्द्र बाजपेयी

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

प्रथम अध्याय : आरम्भिक कांग्रेस की संवैधानिक सुधारों की मांग 1 - 30

- उन्नीसवीं सदी की प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरूप 3 - 4
- शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय 4 - 5
- आरम्भिक कांग्रेस 5 - 7
- कांग्रेस द्वारा अधिवेशनों में संवैधानिक सुधारों की मांग 7 - 10
- ब्रिटिश संसद से हस्तक्षेप की मांग 11 - 13
- अधिनियम की व्यवस्थायें 13 - 16
- विभिन्न कांग्रेस अधिवेशनों में स्वीकृत प्रस्ताव 16 - 20
- 1892 के भारतीय कौंसिल अधिनियम के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण 21 - 24
- बीसवीं सदी के आरम्भ में संवैधानिक परिवर्तन पर कांग्रेस का बल 25 - 28

द्वितीय अध्याय: 1909 का कौंसिल अधिनियम और कांग्रेस 31 - 55

- बंगाल विभाजन और कांग्रेस में उभरती उग्रवादी लहर 32 - 36
- मार्ले और मिन्टो का दृष्टिकोण 36 - 38
- कांग्रेस की मांग पर ब्रिटिश प्रतिक्रिया 38 - 39
- गोखले की मध्यस्तता 40 - 41
- 1908 की मद्रास कांग्रेस 41 - 43
- 1909 का सुधार अधिनियम और कांग्रेस 43 - 47
- गोखले द्वारा प्रस्तुत संवैधानिक सुधार योजना 49 - 50
- कांग्रेस लीग संवैधानिक सुधार योजना 50 - 51
- उन्नीस राष्ट्रनेताओं का प्रतिवेदन 52 - 53

तृतीय अध्याय : 1919 का भारतीय शासन अधिनियम और कांग्रेस 56 - 89

- 1917 की भारत सचिव की घोषणा 58 - 60
- मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना 60 - 63
- कांग्रेस का विशेष अधिवेशन 63 - 68
- 1919 का भारत सरकार अधिनियम 68 - 76
- कांग्रेस द्वारा भावी नीति पर निर्णय 76 - 79
- कांग्रेस द्वारा इस अधिनियम के बहिष्कार का निर्णय 80 - 84
- द्वैध शासन प्रणाली की असफलता 84 - 87

चतुर्थ अध्याय : स्वराजवादियों की संवैधानिक सुधारनीति और नेहरू प्रतिवेदन 90 -123

- कौंसिल बहिष्कार की स्वराजदल की नीति 92 - 94
- संवैधानिक प्रणाली में मूल परिवर्तनों की स्वराजदल की मांग 94 - 96
- 1926 के विधान सभाओं के निर्वाचन 96 - 98
- स्वराज योजना का प्रारूप तैयार करने के आरम्भिक प्रयास 98 -101
- साइमन कमीशन का कांग्रेस द्वारा विरोध 101 -104
- साइमन कमीशन का प्रतिवेदन 104 -107
- सर्वदलीय सम्मेलन में संवैधानिक सुधारों पर विचार-विमर्श 107 -109
- नेहरू प्रतिवेदन के मुख्य सुझाव 109 -114
- कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन में नेहरू प्रतिवेदन पर विचार 114 -117
- कांग्रेस द्वारा स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित 117 -120

पृ० संख्या

पंचम् अध्याय :	गोलमेज सम्मेलन और 1935 के अधिनियम के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण	124 - 177
	- लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन	126 - 129
	- करांची कांग्रेस के निर्णय	130 - 133
	- दूसरा गोलमेज सम्मेलन	133 - 137
	- 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय का गांधी जी द्वारा विरोध और पूना समझौता	138 - 143
	- 1934 का श्वेत पत्र और कांग्रेस	143 - 147
	- केन्द्रीय विधानसभा के निर्वाचन में कांग्रेस का सम्मिलित होना	147 - 151
	- ब्रिटिश संसद द्वारा 1935 के अधिनियम की स्वीकृति	151 - 154
	- 1935 का अधिनियम और कांग्रेस की नीति	154 - 170
षष्ठम् अध्याय :	प्रान्तीय स्वायत्तता	174 - 210
	- प्रातीय स्वायत्तता कार्यक्रम में भाग लेने का कांग्रेस का निर्णय	178 - 181
	- कांग्रेस का चुनावी घोषणा पत्र	181 - 184
	- 1937 के विधानसभाओं के निर्वाचन	184 - 188
	- 1937 के चुनावों में कांग्रेस की सफलतायें	189 - 192
	- सरकार बनाने के विषय में कांग्रेस की नीति और उससे उठा विवाद	192 - 199
	- प्रातीय स्वायत्तता कार्यक्रम को सफल बनाने में कांग्रेस की भूमिका	199 - 204
	- कांग्रेस मंत्रिमंडलों का त्यागपत्र	204 - 207

		पृष्ठ संख्या
सप्तम् अध्याय :	द्वितीय महायुद्ध कालीन संवैधानिक गतिरोध	211 - 241
	- 1939 में संवैधानिक गतिरोध की स्थिति	213 - 216
	- 1940 में रामगढ़ में कांग्रेस का अधिवेशन	216 - 217
	- महायुद्ध के समय संवैधानिक सुधार के प्रश्न पर समझौता न होना	218 - 219
	- अगस्त 1940 का प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा अस्वीकृत	219 - 224
	- क्रिप्स मिशन प्रस्ताव और कांग्रेस दृष्टिकोण	224 - 230
	- 1945 का शिमला समझौता	320 - 232
	- कैबिनेट मिशन योजना और कांग्रेस का दृष्टिकोण	232 - 237
	- अन्तरिम सरकार का गठन	237 - 239
अष्टम् अध्याय :	संविधान सभा का निर्माण और नीति निर्धारण	224 - 272
	- कांग्रेस द्वारा संविधान सभा की मांग पर निरन्तर जोर	243 - 246
	- द्वितीय महायुद्ध के समय संविधान सभा के प्रश्न पर ब्रिटिश नीति में परिवर्तन और कांग्रेस पर इसका प्रभाव	246 - 250
	- द्वितीय महायुद्ध के समाप्ति के उपरांत संविधान सभा की मांग पर जोर	250 - 251
	- 1940 के निर्वाचन और संविधान सभा का गठन	251 - 254
	- संविधान सभा के चुनाव और संगठन	254 - 260
	- संविधान सभा के अधिकारों और कार्यों के विषय में आरम्भिक मतभेद	260 - 263
	- संविधान सभा के अधिवेशन का आरम्भ	263 - 264

पृष्ठ संख्या

- संविधान सभा का दूसरा अधिवेशन 264 - 266
- ब्रिटिश प्रधानमंत्री की संसद में घोषणा 266 - 267
- संविधान सभा के स्वरूप में परिवर्तन 267 - 270

नवम् अध्याय : उपसंहार 273 - 288

संदर्भिका (बिबलियोग्राफी) 289 - 296

---0---

प्रथम अध्याय

आरम्भिक कांग्रेस की संवैधानिक सुधारों की मांग

- उन्नीसवीं सदी की प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरूप
- शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय
- आरम्भिक कांग्रेस
- कांग्रेस द्वारा अधिवेशनों में संवैधानिक सुधारों की मांग
- ब्रिटिश संसद से हस्तक्षेप की माँग
- अधिनियम की व्यवस्थायें
- विभिन्न कांग्रेस अधिवेशनों में स्वीकृत प्रस्ताव
- 1892 के भारतीय कौंसिल अधिनियम के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण
- बीसवीं सदी के आरम्भ में संवैधानिक परिवर्तन पर कांग्रेस का बल.

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम कुछ दशकों में भारतीय राजनीति का नया स्वरूप उभरा, नये प्रकार के भारतीय राजनीतिज्ञों ने भूमिका निभाना आरम्भ कर दिया और 1885 से एक राष्ट्रव्यापी राजनीतिक संगठन की स्थापना से वह मंच बन गया जिसके आधार पर देश की समस्याओं पर गहराई से विचार हो सकता था । इसी से 1885 को भारतीय राजनीति की एक विभाजित रेखा माना गया है । 28 दिसम्बर, 1885 को भारत के प्रसिद्ध नगर बम्बई में बहत्तर जाने-माने भारतीयों ने जो सम्मेलन आयोजित किया वही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन कहलाया । इस अधिवेशन की रिपोर्ट में यह उल्लेख किया गया है कि इस स्थान पर एकत्रित लोगों का उद्देश्य था -"राष्ट्रीय प्रगति के उद्देश्य में जुटे हुए व्यक्तियों का एक दूसरे से परिचित होना और इस कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयास करना।"[1]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक स्थायी राजनीतिक संगठन सिद्ध हुआ। लगातार इसके अधिवेशन प्रत्येक वर्ष भारत के किसी न किसी नगर में आयोजित होते रहे । कांग्रेस का महत्त्व समय के साथ बढ़ता गया । इस अध्याय में आरम्भिक बीस वर्षों की कांग्रेस की विचारधारा और संवैधानिक सुधारों तथा संवैधानिक परिवर्तनों के प्रति उसकी नीतियों की चर्चा प्रस्तुत है । इस युग को आरम्भिक कांग्रेस का युग माना जाता है । दूसरे शब्दों में नरम दलीय अथवा उदारवादी विचारों से ओत-प्रोत राष्ट्रवादियों के नेतृत्त्व का समय । आरम्भिक कांग्रेस का दृष्टिकोण उसके प्रमुख नेताओं के राजनीतिक विचारों से

प्रभावित हुआ । जैसा तत्कालीन वातावरण और प्रशासनिक संगठन था और केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारों का जो स्वरूप था, उसी के अनुसार इन राजनीतिज्ञों में संवैधानिक सुधारों पर ध्यान दिया ।

उन्नीसवीं सदी की प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरूप

भारत में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रायः एकात्मक प्रशासनिक व्यवस्था थी । जिसमें केन्द्रीय सरकार को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाये रखने का निर्णय किया गया था। इस समय की प्रशासनिक व्यवस्था पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी थी । प्रशासकों के ऊपर यदि कोई नियन्त्रण था तो वह लन्दन स्थित गृह सरकार का था । ब्रिटिश संसद का नियन्त्रण था, ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण था । यदि सरकार किसी के प्रति उत्तरदायी थी तो वह गृह सरकार के ही प्रति थी। भारतीयों की भूमिका नगण्य थी। 1857 की क्रान्ति के उपरान्त जब प्रशासनिक व्यवस्था पर विचार किया गया तो केवल इतना माना गया कि भारतीय अथवा प्रान्तीय शासन में भारतीयों के विचारों को सुनने का अवसर दिया जाय । इसी दृष्टि से 1861 के भारतीय कौंसिल अधिनियम में सर्वप्रथम यह व्यवस्था की गयी कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में "कुछ अतिरिक्त सदस्य" जोड़े जाय, जिनकी संख्या बहुत सीमित रखी गयी। ये अतिरिक्त सदस्य विधि निर्माण के समय गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी को परामर्श देने का कार्य करते थे ।

जो भी गिने-चुने सदस्य इस अधिनियम के द्वारा शामिल किये गये,

वे मनोनीत होते थे । गवर्नर जनरल या गवर्नर को उनके मनोनयन की पूरी स्वतन्त्रता थी । इस अधिनियम के द्वारा जो पहले तीन भारतीय गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में जोड़े गये थे, वे पटियाला के महाराजा, बनारस के राजा और होल्कर राज्य के मन्त्री दिनकर राव । इस प्रकार उच्चतम कौंसिल में केवल राजा महाराजाओं को या फिर रियासतों में कार्यरत प्रसिद्ध व्यक्तियों को स्थान दिया गया । इसका अर्थ यह हुआ कि भारत स्थित ब्रिटिश सरकार ने केवल उच्च वर्गों के प्रतिनिधियों को ही प्रशासन में शामिल करने का प्रयास किया ।[2]

1861 में भारतीयों को प्रशासन में शामिल करने की नीति का जिस प्रकार से पालन किया गया उससे भारतीय सन्तुष्ट न हो सके । गर्वनर जनरल की कौंसिल से जुड़े ये लोग भारतीयों के न तो प्रतिनिधि थे और न उन्हें ऐसा माना गया ।

शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय हुआ । अब तक भारत में पाँच विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे । उच्च शिक्षा प्राप्त अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवक तत्कालीन राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में अपनी भूमिका निभाने में तत्पर दिखाई दिये । ऐसे वातावरण में इन शिक्षित मध्यमवर्गीय लोगों की महत्वाकांक्षाओं की अनदेखी नहीं की जा सकती थी ।[3] जब 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन हो गया तो इस संगठन की

प्रभावी भूमिका इसी शिक्षित मध्यम वर्ग ने निभायी । ये लोग अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे । उदारवादी विचारों से प्रभावित थे । स्वतन्त्रता, समानता और प्रजातन्त्र के प्रति उनकी गहरी आस्था थी और ब्रिटेन की शासन प्रणाली के समान प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली को भारत में लागू करना उनका लक्ष्य था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच से उन्होंने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को, उसकी प्रतिनिधि शासन व्यवस्था को किसी न किसी प्रकार से भारत में यथाशीघ्र अपनाने पर बल दिया ।[4]

आरम्भिक कांग्रेस

1885 से 1905 की अवधि में कांग्रेस के नेतृत्व ने लगातार एक ही प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया और जो परिधि उसने एक बार खींची थी उसी परिधि में रहकर कांग्रेस संगठन को चलाने का प्रयास किया गया । इस युग की कांग्रेस की पहली प्रमुख विचारधारा थी ब्रिटिश सरकार के प्रति गहरी आस्था और ब्रिटिश शासन को बनाये रखने में विश्वास । इस समय के कांग्रेस नेताओं को मानना यह था कि ब्रिटिश शासन भारतीयों के कल्याण के लिये आवश्यक है । अतः उन्होंने तत्कालीन ब्रिटिश शासन को चुनौती देने के स्थान पर सहयोग करना लक्ष्य बनाया । चौथी कांग्रेस की वार्षिक रिपोर्ट को प्रस्तुत करते हुए उमेश चन्द्र बनर्जी ने इस प्रकार लिखा -

"जिस सिद्धान्त पर कांग्रेस आधारित है वह यह है कि भारत में ब्रिटिश शासन स्थायी तौर पर और हमेशा के लिये होना चाहिये तथा इस

आधारभूत तथ्य को स्वीकारते हुये प्रत्येक शिक्षित भारतीय का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह शासन करने वालों को इस प्रकार से सहायता करे कि जिससे वे लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारने के उपाय कर सके । सभी वर्गों एवं समुदायों को प्रसन्न कर सकें और ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा को सन्तुष्ट कर सकें ।"[5]

इस प्रकार के प्रस्ताव प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में पारित होते रहे और कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में लगातार ब्रिटिश शासन की प्रशंसा का स्वर गूँजता रहा । कांग्रेस के पहले अधिवेशन में उसके अध्यक्ष ने कहा था – "भारत के लाभ के लिये ब्रिटिश सरकार ने बहुत कुछ किया है लेकिन उसे अभी बहुत कुछ करना बाकी है ।" इस प्रकार की शब्दावली समय-समय पर दोहरायी जाती रही जिससे यह प्रमाणित होता है कि आरम्भिक बीस वर्षों में भारत स्थित ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने की नीति अपनायी गयी । इस अवधि में कांग्रेस के नेताओं को पूर्ण विश्वास था कि उनके तर्कों और प्रस्तावों को ध्यान से सुना जायेगा तथा ब्रिटिश शासन आवश्यकतानुसार कार्यवाही करेगा । यह कहा जा सकता है कि आरम्भिक युग प्रतीक्षा का युग था और विश्वास का युग था तथा धैर्य से ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना करने का युग था । ऐसे समय में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जब संवैधानिक सुधारों की मांग की तो उसका उद्देश्य ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के मुख्य सिद्धान्तों को यथाशीघ्र भारत में अपनाना था ।[6]

वे प्रजातान्त्रिक प्रतिनिधि प्रणाली के प्रशंसक थे । उनका यह विश्वास

था कि जब वे कांग्रेस के मंच से ब्रिटिश सरकार से अपील करेंगे तो क्रमिक रूप से भारत में संवैधानिक सुधारों का सिलसिला चल पड़ेगा । यह आशावादी दृष्टिकोण क्या था ? इस युग में आशावादी दृष्टिकोण के समय किस प्रकार के संवैधानिक सुधारों की मांग की गयी और कैसे संवैधानिक परिवर्तनों की कल्पना की गयी । इसकी चर्चा का यही महत्व है ।

कांग्रेस द्वारा अधिवेशनों में संवैधानिक सुधारों की मांग

अपने स्थापना के साथ ही कांग्रेस ने संवैधानिक परिवर्तनों पर ध्यान देने का क्रम आरम्भ कर दिया । पहले अधिवेशन में ही कांग्रेस ने संवैधानिक स्वरूप में परिवर्तन का प्रस्ताव पारित किया और इसके बाद प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में संवैधानिक परिवर्तनों पर कम या अधिक चर्चा जारी रही ।

कांग्रेस के नेताओं को यह भली भाँति मालूम था कि 1861 के भारतीय कौंसिल अधिनियम को संशोधित करते हुए पुनः कोई न कोई संवैधानिक अधिनियम पारित होगा । सामान्य रूप से बीस वर्षों के पश्चात् कोई न कोई संवैधानिक अधिनियम पारित होता रहा था । पूर्ववर्ती कौंसिल अधिनियम के पारित होने के बीस वर्ष पहले ही बीत चुके थे । अतः यह सभी को आशा थी कि एक नया कौंसिल अधिनियम पारित होगा । इस सम्भावना को दृष्टि में रखते हुये 1885 से 1892 के सात वर्षों में प्रस्तावित कौंसिल अधिनियम की आशा करते हुए कांग्रेस ने अपनी ओर से अनेक सुझाव प्रस्तुत किये जिनका ब्योरेवार विवरण देना उपयुक्त होगा ।

कांग्रेस ने पहले अधिवेशन में प्रतिनिधि शासन प्रणाली के अपनाने पर बल देते हुए जो प्रस्ताव पारित किया उसका मुख्य अंश यह था कि यह कांग्रेस आवश्यक समझती है कि केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान सभाओं में सुधार और विस्तार किया जाय और यह भी चाहती है कि अन्य प्रांतों में विशेषकर उत्तर पश्चिमी प्रान्त, अवध तथा पंजाब में इसी प्रकार की विधानसभाओं का गठन किया जाय ।[7]

कांग्रेस ने दूसरे अधिवेशन में संवैधानिक सुधार की विस्तृत योजना प्रस्तुत की और मांग की, कि इस योजना की विस्तृत तथा व्यापक परीक्षा की जाय । कांग्रेस ने सुधार के बारे में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये, जो इस प्रकार थे -

1. संगठन के बारे में कांग्रेस का कहना था कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानसभाओं में पर्याप्त संख्या में सदस्य हो । इसी समय इसी प्रस्ताव में कांग्रेस ने यह भी कहा कि कम से कम इन विधान-सभाओं में पच्चास प्रतिशत सदस्य चुने हुए हों । पच्चीस प्रतिशत से अधिक सदस्य अधिकारी न हों और पूर्व अधिकारियों की संख्या पच्चीस प्रतिशत से अधिक न हो ।

2. कांग्रेस की मांग यह थी कि प्रान्तीय सभाओं के सदस्यों का चुनाव कुछ विशेष वर्गों तक ही सीमित हो जो अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग प्रकार के हो सकते थे जैसे बंगाल और बम्बई में प्रान्तीय

सदस्यों का चुनाव जिला परिषद् द्वारा, नगर पालिका समितियों द्वारा, व्यापार मण्डल तथा विश्वविद्यालय द्वारा हो सकता था। मद्रास तथा अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार के अप्रत्यक्ष चुनाव का प्रस्ताव किया गया जिसमें सीमित संख्या में लोगों को मत देने का अधिकार दिया जा सकता था।

3. कांग्रेस ने यह भी प्रस्ताव किया कि किसी भी चुने हुये या मनोनीत विधानसभा के सदस्य को सदस्यता के कारण किसी प्रकार का वेतन न दिया जाय तथा न ही कोई भत्ता दिया जाय। केवल गैर सरकारी सदस्यों को यात्रा भत्ता देने के प्रावधान की संस्तुति की गयी।[8]

कांग्रेस ने विधानसभाओं के अधिकारों को बढ़ाने की भी मांग की। जिसमें मुख्य मांग थी बजट को विधान सभाओं में प्रस्तुत करना और उस पर सदस्यों को आलोचना का अधिकार हो। इसी समय कांग्रेस ने विधान सभा के सदस्यों को यह अधिकार देने की मांग की कि वे कार्यकारिणी से प्रश्न पूँछ सकें।

1887 के अधिवेशन में कांग्रेस ने अपने पहले की मांगों को दोहराते हुए सरकार से अपील की कि वह सुधार करने में विलम्ब न करे।[9] 1888 के अधिवेशन में भी प्रायः यही रूख अपनाया गया। इन दोनों अधिवेशनों के प्रस्तावों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कांग्रेस अपनी मांगों पर दृढ़ रहते हुए

सरकार को संवैधानिक परिवर्तन करने का पर्याप्त अवसर देना चाहती थी।[10]

कांग्रेस का पाँचवां अधिवेशन संवैधानिक प्रस्तावों की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण हुआ क्योंकि कांग्रेस ने इस अधिवेशन में संवैधानिक सुधारों की एक योजना प्रस्तुत की और कांग्रेस अध्यक्ष से अपील की कि वह ब्रिटिश संसद के सदस्य चार्ल्स ब्रेडलाफ को यह अधिकार दे कि वे कांग्रेस की योजना को ब्रिटिश संसद के सम्मुख प्रस्तुत करें । अन्ततः कोई भी कौंसिल अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा ही पारित होता था। अतः कांग्रेस ने यह उचित समझा कि ब्रिटिश संसद को ही संवैधानिक सुधार करने को कहा जाय । इस विस्तृत योजना में कुछ पहले के प्रस्ताव और कुछ नये प्रस्ताव शामिल किये गये । केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानसभाओं के सदस्यों के चुनाव के बारे में पहले के पारित प्रस्तावों को दोहराते हुए कुल सदस्य संख्या के आधे सदस्यों को चुनाव प्रणाली द्वारा नियुक्त करने का प्रस्ताव किया गया । लेकिन मतदान के अधिकार के विषय में कांग्रेस ने पहली बार और व्यापक मांग की । उसका कहना था कि कुछ योग्यतायें रखने वाले प्रत्येक भारतीय को मतदान का अधिकार दिया जाय । इस प्रस्ताव से यह सिद्ध होता है कि कांग्रेस चुनाव प्रणाली को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के पक्ष में थी और इस सम्बन्ध में उसने विस्तृत प्रस्ताव प्रस्तुत किये । इस अधिवेशन में यह भी कहा गया कि सभी केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओं के निर्वाचनों में बैलट पेपर का प्रयोग हो । हर दृष्टि से संसदीय प्रणाली और प्रतिनिधि शासन व्यवस्था के पक्ष में कांग्रेस ने एक प्रभावी योजना प्रस्तुत की ।[11]

ब्रिटिश संसद से हस्तक्षेप की मांग

यह विचार करना आवश्यक है कि कांग्रेस के प्रस्तावों ने आगामी संवैधानिक सुधार योजना को किस सीमा तक प्रभावित किया और उसके प्रस्तावों पर कितना ध्यान दिया । तत्कालीन गवर्नर जनरल डफरिन ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार विधान सभाओं के स्वरूप में परिवर्तन के विचार को स्वीकार किया । इस गवर्नर जनरल ने कार्यकारिणी परिषद् की तीन सदस्यीय एक समिति नियुक्त की जिसने दस अक्टूबर 1888 को अपनी एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समिति के साथ यह विचार उभरा कि विधान परिषदों के चुनाव और कार्य प्रणाली के बारे में परिवर्तन करने का उचित स्थान प्रान्तीय विधान परिषदें थी । इस गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त समिति ने कौंसिलों को प्रभावी बनाने का सुझाव दिया ।[12] डफरिन का कार्य काल समाप्त होने के बाद जब लेन्सडाउन नया गवर्नर जनरल बना तो उसने भी पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल के स्वर में स्वर मिलाया । इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय प्रशासन के उच्चतम स्तर पर विधान परिषद् के सदस्यों के चुनाव और उनके अधिकारों पर विचार करने का समर्थन किया गया था।

मुख्य और निर्णायक प्रश्न था - गृह सरकार का रूख । इस सम्बन्ध में भारत सचिव द्वारा लिखा गया ग्यारह फरवरी 1891 का पत्र उपलब्ध है जिसमें गृह सरकार के असमंजस की चर्चा की गयी । गवर्नर जनरल को लिखे पत्र में भारत सचिव ने इस प्रकार लिखा -"मन्त्रिमण्डल विधेयक को प्रस्तुत

करने को हिचकिचा रहा था क्योंकि उग्र विचार रखने वाले किसी भी सुधार को अधिक नरम मानेंगे और प्रतिक्रियावादी विधेयक को क्रान्तिकारी कहेंगे। प्रधानमन्त्री सेलिसबरी का मानना है कि पिछले पन्द्रह वर्षों से किसी को उस समय तक सफलता नहीं मिली जब तक उसे सम्पूर्ण और निर्णायक बहुमत प्राप्त न हो । इन परिस्थितियों में संसद का एक बड़ा वर्ग निराशावादी हो रहा है और भारतीय कौंसिल विधेयक के समान किसी भी विधेयक के कुछ विरोधी या दुश्मन तो हैं ही लेकिन मित्र कम । ऐसी स्थिति में इसे पारित करने में पर्याप्त कठिनाइयाँ हैं ।"[13] इस पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश संसद में राजनीतिक स्थिति ऐसी थी कि भारत में किसी भी प्रकार की चुनाव प्रणाली के सिद्धान्त को अपनाये जाने से सम्बन्धित विधेयक के स्वीकृत होने की संभावना बहुत कम थी। स्पष्टतः ब्रिटिश संसद के सदस्य भारत की संवैधानिक व्यवस्था में कोई बड़ा परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं थे और विधेयक तभी पारित हो सकता था जब ब्रिटिश संसद के सदस्य आश्वस्त हो जाय कि भारत के संवैधानिक तन्त्र को बदलने के कोई बड़े प्रयास नहीं हो रहे थे।[14]

ब्रिटिश संसद के राजनीतिक रूख ने गृह सरकार और भारत सरकार को विवश कर दिया कि केवल ऐसा ही विधेयक प्रस्तुत हो जो एक प्रकार की औपचारिकतायें निभायें तथा अप्रत्यक्ष रूप से सुधारों का मार्ग प्रशस्त करें और भारत में प्रतिनिधि शासन प्रणाली को अपनाने की दिशा में कोई कारगर कदम न उठाये जाय । उन्नीसवीं सदी का अन्तिम दशक ब्रिटिश साम्राज्यवादी

विचारधारा का दशक था । जिसमें भारत ऐसे उपनिवेशों पर ब्रिटेन की पकड़ मजबूत बनाये रखने का विचार सर्वोपरि था। ब्रिटिश संसद के राजनीतिज्ञ भारत ऐसे उपनिवेशों में प्रतिनिधि प्रणाली के किसी भी प्रकार से अपनाये जाने के पक्ष में नहीं थे ।

अधिनियम की व्यवस्थायें

अधिनियम की व्यवस्थायें निम्न थी -

अधिनियम में कहा गया कि वायसराय को यह अधिकार होगा कि वह अपनी कार्यकारिणी परिषद् का कानून बनाने के लिए विस्तार कर सकेगा। इस हेतु उसे कम-से-कम दस और अधिक से अधिक सोलह सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार होगा । इसी प्रकार कानून बनाने के लिए बम्बई और मद्रास के गवर्नरों को भी अपनी-अपनी कौंसिलों में कम से कम आठ और अधिक से अधिक बीस अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया ।

गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह अपनी कौंसिल के सुझाव से बंगाल की कौंसिल में अधिक से अधिक बीस और उत्तर-प्रदेश की कौंसिल में पन्द्रह सदस्य बढ़ा सकता था ।

गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह अपनी परिषद् की सहायता से सदस्यों की नियुक्ति के विषय में नियम बना सके परन्तु

इस विषय में भारत-सचिव की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

इस अधिनियम के अनुसार कुछ नियमों के अन्दर रहकर विधान परिषदों के सदस्यों को कार्यकारिणी परिषद् से घरेलू मामलों के प्रश्न पूछने और बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया । ये अधिकार गवर्नर-जनरल की विधान परिषद् तथा प्रान्तीय विधान परिषदों को दिये गये । गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् और गवर्नरों तथा उनकी परिषदों को इन विषयों में नियम बनाने का अधिकार दिया गया ।

चूँकि परिषद् के नियमों ने उन विषयों को निर्धारित नहीं किया जिन तक प्रश्न सीमित हो सकते थे, इसलिये विधान परिषद् का अध्यक्ष किसी भी प्रश्न को किसी कारण बताये बिना पूछे जाने की आज्ञा देने से इस आधार पर मना कर सकता था कि यह सार्वजनिक हित के विरूद्ध है । प्रान्तीय परिषदों में सदस्यों को प्रशासन के विषय में प्रश्न पूछने की आज्ञा नहीं दी गयी, ये तो केवल स्थानीय प्रशासन के विषय में प्रश्न पूछ सकते थे । ऐसे मामलों में जिनमें स्थानीय प्रशासन, सपरिषद् महाराज्यपाल तथा भारत सचिव में कोई विवाद होता था, उनके विषय में विधान परिषदों में प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं थी। कोई भी प्रश्न केवल किसी तथ्य को ज्ञात करने के लिए पूछा जा सकता था और उसका उत्तर भी उस तथ्य की जानकारी तक सीमित होता था। कोई भी वाद-विवाद किसी प्रश्न के उत्तर पर नहीं किया जा सकता था। इसलिये विधान परिषद् के सदस्यों को प्रश्न पूछने का जो अधिकार दिया गया था, वह

सरकार की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर था। गवर्नर-जनरल, गवर्नरों और लेफ्टीनेंट गवर्नरों को यह अधिकार दिया गया कि वे अपनी परिषदों में रिक्त स्थानों को भर सकें । यदि कोई सदस्य निरन्तर दो महीने तक विधान परिषद की बैठक में भाग नहीं लेता था, तो उसका स्थान रिक्त घोषित किया जा सकता था। यदि कोई सदस्य अन्य कारण से बैठकों में उपस्थित नहीं हो सकता था, या उसकी मृत्यु हो जाती थी, या उसका त्यागपत्र आ जाता था, तो भी उसका स्थान रिक्त घोषित किया जा सकता था। ऐसे सदस्य के स्थान पर दूसरा सदस्य गवर्नर-जनरल, गवर्नर, लेफ्टीनेंट गवर्नर द्वारा अपनी-अपनी परिषद् में मनोनीत किया जा सकता था ।

प्रान्तीय विधान परिषदों को नये कानून बनाने और पुराने कानूनों को आवश्यकता के अनुसार निरस्त करने का अधिकार दिया गया परन्तु इस हेतु गवर्नर जनरल की पहले स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। यदि गवर्नर-जनरल कोई विशेष आवश्यकता समझता, तो वह अपनी विधान परिषद् की सहायता से प्रान्तों के लिये कानून बना सकता था ।

गवर्नर-जनरल की विधान परिषद् तथा प्रान्तीय विधान परिषदों में सरकारी अधिकारियों का बहुमत रखा गया ताकि सरकार को किसी प्रकार की कोई कठिनाई न हो । इन परिषदों में निर्वाचित सदस्य बहुत ही थोड़े थे । अधिकतर गैर-सरकारी अधिकारी प्रायः मनोनीत किये जाते थे ।

विश्वविद्यालयों, जिला बोर्डों, नगर पालिकाओं, चैम्बर ऑफ कॉमर्स तथा प्रान्तीय परिषदों को कुछ सदस्यों के चुनने का अधिकार दिया गया ।

विभिन्न कांग्रेस अधिवेशनों में स्वीकृत प्रस्ताव

1892 के अधिनियम का स्वरूप नाममात्र का ही उदारवादी था । फिर भी भारत सरकार को प्रतिनिधि शासन प्रणाली के प्रयोग करने का अवसर दिया गया । इस अधिनियम में सबसे मुख्य व्यवस्था यह थी कि गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह विधान परिषदों को मनोनीत करने के विषय में नियम बना सकता था । इस प्रकार एक अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली को भारत में आरम्भ किया गया । यद्यपि अधिनियम में चुनाव के अधिकार को अस्वीकार कर दिया गया फिर भी सरकार को अधिकार मिला कि वह विभिन्न भारतीय संस्थाओं को नाम प्रस्तावित करने का अधिकार दे और यथासम्भव स्वीकृत संस्थाओं की संस्तुति को स्वीकार करते हुए गवर्नर या गवर्नर जनरल विधान परिषदों के सदस्यों को मनोनीत करने लगा । इसी को अप्रत्यक्ष चुनाव व्यवस्था कहा गया । पूर्ववर्ती अधिनियम में भारतीयों का मनोनयन गवर्नर या गवर्नर जनरल द्वारा होता था। 1892 के अधिनियम द्वारा कहा गया कि गवर्नर या गवर्नर जनरल सदस्यों को मनोनयन करते समय निर्धारित संस्थाओं की संस्तु-तियों के अनुसार यथासम्भव कार्य करें ।[15]

अधिनियम की इसी धारा को क्रियान्वित करते हुये शीघ्र ही नियमों की घोषणा कर दी गयी, जिसके आधार पर विश्वविद्यालयों के सीनेटों, बड़े नगरों के कारपोरेशनों, नगरपालिकाओं, जिला परिषदों, व्यापार मण्डलों और जमींदारों के संगठनों को सदस्यों के नामों की संस्तुति का अधिकार दिया गया । यदि सरकार के नियम की तुलना कांग्रेस के 1886 के प्रस्ताव से की जाय तो ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ सीमा तक सरकार ने कांग्रेस की मुख्य मांग को आंशिक रूप से मानने का प्रयास किया क्योंकि कांग्रेस ने भी सीमित वर्गों को ही चुनाव प्रणाली में भाग लेने का प्रस्ताव किया था।[16]

यदि अधिनियम के अनुसार कार्यवाही करने के प्रश्न पर विचार किया जाय तथा देखा जाय कि 1892 के अधिनियम के अनुसार किस प्रकार के लोगों को विधान परिषदों में स्थान दिया गया तो यह ज्ञात होता है कि सरकार ने एक प्रकार से संतुलन बनाये रखने की नीति को बनाये रखा । सरकार द्वारा न तो केवल कांग्रेस जनों का ही मनोनयन किया गया और न ही सभी कांग्रेस जनों की उपेक्षा ही की गयी । सरकार का दृष्टिकोण यह था कि वह सभी प्रकार के वर्गों, समुदायों और संस्थाओं के प्रतिनिधियों को अवसर देगी और ऐसा करते समय कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी किसी भी प्रकार के भारतीयों को विधानसभाओं में स्थान मिलेगा । यदि यह स्मरण रखा जाय कि विधान परिषदों का सीमित रूप से ही विस्तार किया गया था तो इससे यह प्रकट हो जाता है कि 1892 के अधिनियम के अनुसार स्थापित विधान परिषदें भी उसी प्रकार की समितियों के समान थी जिस प्रकार की समितियों के समान

परिषदें पहले स्थापित की गयी थी। 1892 के अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय विधान परिषद् में कम से कम दस और अधिक से अधिक सोलह सदस्यों के सम्मि-लित करने की व्यवस्था थी। इसकी तुलना में प्रान्तीय परिषदों की संख्या अधिक थी । उदाहरण के लिये बम्बई और मद्रास की विधान परिषदों में कम से कम आठ और अधिक से अधिक बीस सदस्य मनोनीत किये जा सकते थे । जब केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों में इतने कम सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था की गयी तो इसमें गैर सरकारी भारतीय सदस्य केवल कुछ गिने-चुने ही होते थे । विधान परिषदों पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण बनाये रखने की दृष्टि से यह प्रावधान किया गया । एक ओर तो यह दिखाया गया कि संस्थाओं और संगठनों द्वारा प्रस्तावित सदस्यों को केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय परिषदों में नियुक्त किया जा सकता है लेकिन दूसरी ओर ऐसे भारतीय सदस्यों की संख्या परिषदों में इतनी कम रखी गयी कि वे सरकारी अधिकारियों अथवा सरकार के प्रतिनिधियों की बहुमत वाली परिषदों में कोई अधिक प्रभावी भूमिका न निभा सके । इन सभी प्रतिबन्धों के उपरान्त भी कांग्रेस के समर्थकों को समय-समय पर विधान परिषदों में स्थान मिलता रहा । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का मनो-नयन कलकत्ता कारपोरेशन की संस्तुति पर किया गया । लाल मोहन घोष का प्रस्ताव नगर-पालिकाओं द्वारा किया गया । ये दोनों प्रबल कांग्रेसी समर्थक थे । इसी प्रकार एक अन्य कांग्रेस से सहानुभूति रखने वाला महाराजा दरभंगा नरेश को पटना जिला परिषद् की संस्तुति पर नियुक्त किया गया । उत्तर पश्चिमी प्रान्त और अवध में जो प्रमुख कांग्रेसी मनोनीत हुये थे, वे थे चारू

चन्द्र मित्र और राजा रामपाल सिंह । ये दोनों प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्य हुए । राजा रामपाल सिंह प्रसिद्ध जमींदार थे । इन्होंने कांग्रेस में आरम्भ से ही प्रभावी भूमिका निभायी । बम्बई प्रेसीडेन्सी के मनोनयन से कांग्रेस को अधिक प्रसन्नता नहीं हुयी ।[17] फिर भी यहाँ की प्रान्तीयपरिषद में भी प्रमुख कांग्रेसी नेता फिरोजशाह मेहता नियुक्त हुए थे । बम्बई के प्रान्तीय परिषद् के नियमों को ले करके कांग्रेस ने समय-समय पर अपना असन्तोष व्यक्त किया। 1895 के पश्चात् कांग्रेस के दोनों वर्गों के प्रसिद्ध नेता गोखले और तिलक प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान सभाओं के समय-समय पर सदस्य बने । मद्रास में चार स्थानों पर भारतीयों को सदस्य बनने का अवसर दिया गया । पहले चार मनोनीत सदस्यों में कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता संकरन नायर भी थे ।

1892 के विधेयक के स्वरूप और इसको अपनाने के ढंग तथा कांग्रेस जनों को अत्यन्त सीमित संख्या में परिषदों में स्थान देने से यही निष्कर्ष निकलता है कि 1892 के अधिनियम का पारित होना कांग्रेस की एक सफलता थी । कांग्रेस इससे संतुष्ट हुयी या नहीं । इसका आभास इसी अधिनियम के बाद पारित किये गये प्रस्तावों से हो जाता है । अतः 1892 के कांग्रेस अधिवेशन को उद्धृत करना उपयुक्त होगा । इसमें 1892 के विधेयक के विषय में निम्नलिखित टिप्पणी की गयी है -

"यह कांग्रेस यधपि भारतीय कौंसिल अधिनियम को स्वीकार करती है लेकिन फिर भी दुःख प्रकट करती है कि इसके द्वारा लोगों को चुनाव करके

कौंसिल में सदस्य भेजने का अधिकार नहीं दिया गया और आशा करती है कि जो कानून अधिनियम के अनुसार बनाये जायेंगे उनसे देश के लोगों के साथ न्याय होगा ।"[18]

1892 के कांग्रेस के प्रस्ताव पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिसमें उदारवादी स्वर स्पष्ट रूप से मुखरित हुआ तथा जनता के अधिकारों की ओर स्पष्ट रूप से ध्यान दिया गया । जन प्रतिनिधित्व करने का कांग्रेस का दावा धीरे-धीरे और भी मुखरित होता गया । कांग्रेस ने सरकार को स्मरण करा दिया कि भारतीय लोगों की इच्छाओं की उपेक्षा सहन नहीं की जायेगी । यह सही है कि कांग्रेस ने इस प्रस्ताव में सरकार के प्रति "वफादारी" प्रकट की लेकिन फिर भी राजनीति का बदलता हुआ स्वर यही से दिखने लगा था। इसी वर्ष कांग्रेस की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले ए॰ओ॰ ह्यूम ने भारत से चले जाने का निर्णय लिया । अवकाश प्राप्ति आई॰सी॰एस॰ अधिकारी और अंग्रेज ए॰ओ॰ ह्यूम का भारत से विदा होना कोई सामान्य घटना नहीं थी । वास्तविकता यह है कि ह्यूम ने अनुभव कर लिया था कि केवल सरकार के स्वर में स्वर मिलाने के लिए कांग्रेस के भारतीय नेता तैयार नहीं थे । उनमें छटपटाहट के चिन्ह दिखायी पड़ने लगे थे और जहाँ-जहाँ असन्तुष्ट थे वहाँ वे सरकार के निर्णय के विरूद्ध प्रस्ताव पारित करने को भी तैयार थे । 1892 के अधिनियम से कांग्रेस को कोई उत्साह नहीं हुआ बल्कि कांग्रेस जनों को, जो उस समय निराशा हुयी वह धीरे-धीरे बढ़ती ही गयी ।

भारतीय कौंसिल अधिनियम के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण

अधिनियम पारित होने के पश्चात् कांग्रेस का ध्यान लगातार इसके अधीन बनाये गये नियमों और अधिनियमों के क्रियान्वयन पर लगा रहा। कांग्रेस केवल यही आशा कर सकती थी कि अधिनियम के अनुसार बनाये गये नियमों से कांग्रेसी नेताओं को कौंसिल में प्रवेश करने और प्रभावी भूमिका निभाने के अवसर मिलेंगे। अतः आगामी अधिवेशनों में कांग्रेस ने इन नियमों को ले करके अपनी टिप्पणी करना जारी रखा। बम्बई प्रेसीडेन्सी का उदाहरण देना उचित होगा। यह प्रेसीडेन्सी राष्ट्रीय जागरण में पर्याप्त आगे थी। यहाँ पर कांग्रेस सशक्त भी थी। अतः कांग्रेस को यह देखना था कि 1892 के अधिनियम द्वारा उसे उचित प्रतिनिधित्व के अवसर दिये जायेंगे अथवा नहीं। बम्बई के गवर्नर की कौंसिल के लिये नियुक्तियाँ करते समय कांग्रेस की उपेक्षा का प्रयास किया गया। मराठी भाषा भाषी बम्बई प्रान्त के मध्य क्षेत्र सें किसी भी प्रतिनिधि को चुनने का प्रावधान नहीं किया गया था। कांग्रेस ने इसका विरोध किया और अपने प्रस्ताव में यह ध्यान दिलाया कि सरकार ने ऐसा निर्णय जान-बूझ करके लिया है। पूना, सतारा, सोलापुर, अहमदानगर, नासिक आदि स्थानों पर जन-सभायें हुयी। अन्ततः गवर्नर जनरल को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसे गवर्नर को निर्देश देने पड़े कि व्यवस्था में परिवर्तन हो।

स्वाभाविक रूप से कौंसिल अधिनियम पारित होने के पश्चात् कांग्रेस ने प्रतीक्षा करने की नीति अपनायी। उसे मालूम था कि आगामी दस वर्षों तक

कोई भी महत्वपूर्ण अधिनियम पारित होने की सम्भावना नहीं थी। अतः भावी संविधान सुधार योजना को प्रस्तुत करने का कांग्रेस ने निर्णय नहीं लिया । सामान्य रूप से उसने दो कार्य किये । पहला 1892 के भारतीय कौंसिल अधिनियम के क्रियान्वयन पर निरन्तर जोर देना और दूसरा संविधान के स्वरूप पर समय-समय पर निराशा व्यक्त करना । कहने का अर्थ यह है कि संवैधानिक सुधार के प्रति कांग्रेस की प्रतिबद्धता लगातार बनी रही । कोई न कोई प्रस्ताव वह लगातार पारित करती रही लेकिन फिर भी यह अवधि ऐसी थी जिसमें उसे प्रतीक्षा ही करनी थी।

1892 के पश्चात् जिन संवैधानिक विषयों पर चर्चा का क्रम जारी रहा, उनमें एक प्रश्न था भारत सचिव की कौंसिल की समाप्ति का प्रस्ताव। गृह सरकार के गठन पर कांग्रेस ने समय-समय पर ध्यान दिया था और उसका मानना था कि भारत सचिव की कौंसिल में अनेक अवकाश प्राप्त ब्रिटिश अधि-कारियों को स्थान दिया गया था। ये अवकाश प्राप्त ब्रिटिश अधिकारी प्रतिक्रियावादी और साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के थे । इसीलिए वे भारतीय प्रशासन के उदारीकरण के विरोधी थे । चूँकि गृह सरकार की नीति निर्माण में इनकी प्रभावी भूमिका थी और ये भारत सचिव ब्रिटिश सरकार को सुझाव देते रहते थे, इस कारण कांग्रेस ने अपना असन्तोष प्रकट करते हुये इस कौंसिल के सदस्यों को हटा देने की मांग की और समय-समय पर कांग्रेस के अधिवेशनों में इसकी चर्चा भी हुयी । उदाहरण के लिये 1894 के मद्रास अधिवेशन में भारत सचिव की कौंसिल को समाप्त करने की मांग की गयी ।[19]

गृह सरकार के पुनर्गठन के विषय में एक अन्य प्रस्ताव 1904 के बम्बई अधिवेशन में पारित किया गया । इसमें यह कहा गया कि भारत सचिव के कार्यालय के खर्च को भारत से देने की नीति समाप्त कर दी जाय क्योंकि यह कार्यालय लन्दन में था और गृह सरकार लन्दन से कार्य करती थी । इस कारण इसके खर्च को भारत द्वारा देने की प्रथा का विरोध किया गया । कांग्रेस ने यह भी ध्यान दिलाया कि भारत केअतिरिक्त अन्य उपनिवेशों के प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए जो खर्च होता था वह भी उन उपनिवेशों से न ले करके ब्रिटिश सरकार द्वारा वहन किया जाता था। इसी प्रकार की व्यवस्था भारत के विषय में भी करने की मांग की गयी।

1892 के अधिनियम द्वारा जो मनोनयन समय-समय पर हुये आवश्यकतानुसार उन पर भी कांग्रेस ने आपत्तियाँ की । 1896 के कलकत्ता के अधिवेशन का कांग्रेस का यह प्रस्ताव इस दिशा में एक उदाहरण है । इसमें यह कहा गया कि "यह कांग्रेस अपना गम्भीर विरोध भारत सरकार की उस पीछे ले जाने वाली नीति के प्रति करती है जिसे गतवर्ष अपनाया गया । यह आपत्ति करती है कि मध्य प्रान्त से केन्द्रीय विधान परिषद् का सदस्य चुनते समय स्थानीय संस्थाओं को संस्तुत करने का अवसर नहीं दिया गया । कांग्रेस यह आशा करती है कि मध्य प्रान्त को भी अपने प्रतिनिधि भेजने का इसी प्रकार से अधिकार होगा।[20] जिस पर कांग्रेस ने लगातार ध्यानदिया वह था शेष प्रान्तों में विधान परिषदों का गठन । कुछ प्रान्तों में प्रान्तीय विधान परिषदों का

गठन पहले ही हो चुका था जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास । इसके बाद कांग्रेस ने उत्तर, पश्चिम प्रान्त और अवध तथा पंजाब में प्रान्तीय विधान परिषदों के गठन पर जोर दिया । इनमें से पंजाब में परिषदों के गठन पर जब विलम्ब हुआ तो कांग्रेस ने इस ओर सरकार का ध्यान दिलाया । 1894 के मद्रास अधिवेशन में कांग्रेस ने पंजाब में विधानपरिषद् के गठन की अविलम्ब मांग की। अपने प्रस्ताव में इसे एक "अनिवार्य आवश्यकता" बताया और कहा कि प्रान्तीय सरकार के संचालन में यह कदम सहायक सिद्ध होगा ।[21] 1896 का अधिवेशन होने तक कांग्रेस की मांग को स्वीकार कर लिया गया था और पंजाब में प्रान्तीय परिषद् का गठन कर दिया गया था। गवर्नर जनरल के कदम का कांग्रेस ने स्वागत किया । इसके साथ-साथ कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव में यह भी कहा कि पंजाब की नवगठित कौंसिल के अधिकारों को अन्य प्रान्तों के समान न देना अनुचित कदम था । उसने मांग की कि पंजाब विधान कौंसिल के सदस्यों को भी सरकार से प्रश्न पूछने का उसी प्रकार अधिकार होना चाहिये जैसा अन्य प्रान्तों की परिषदों को यह अधिकार दिया गया था । आगामी दो अधिवेशनों में कांग्रेस ने पंजाब के विषय में इन प्रस्तावों को पुनः दोहराया ।[22]

इन प्रस्तावों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि कांग्रेस की संवैधानिक सुधारों के प्रति रूचि निरन्तर बनी रही और उनका ध्यान लगातार इस बात की ओर लगा रहा कि प्रान्तीय कौंसिलों के गठन और उनके अधिकारों की रक्षा हो रही थी अथवा नहीं ।

बीसवीं सदी के आरम्भ में संवैधानिक परिवर्तन पर कांग्रेस का बल

राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन का प्रभाव कांग्रेस के संवैधानिक प्रस्तावों पर अविलम्ब दिखायी देता रहा । कांग्रेस की प्रतीक्षा करने की नीति 1904 के बाद बदलती हुयी दिखायी दी । इस वर्ष के अधिवेशन में कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव में कहा कि "कांग्रेस के विचार से अब समय आ गया है जब देश के लोगों को इसके प्रशासन में और देश की समस्याओं पर अधिक नियन्त्रण करने का अधिकार हो ।"[23] इस प्रस्ताव में पहली बार बदले हुए समय की चर्चा की गयी । इस समय तक राजनीति का स्वरूप बदलना आरम्भ ही हुआ था। राजनीतिक स्थिति पूरी तरह से बदली नहीं थी परन्तु कर्जन के स्वेच्छाचारी शासन का विरोध करना चाहती थी। इसी से कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव में उस समय की चर्चा की है जब परिवर्तन की हवा शुरू ही हुई थी । आगे चलकर जब राजनीति सक्रियता और भी बढ़ गयी तो कांग्रेस, भारत सरकार और गृह सरकार सभी के दृष्टिकोण बदले जिनकी चर्चा आगामी अध्याय में की जा रही है ।

1904 के अधिवेशन में कांग्रेस ने संवैधानिक सुधार के कुछ अन्य प्रस्ताव भी प्रस्तुत किये । इनमें से प्रथम प्रस्ताव यह था कि प्रत्येक प्रान्त से दो सदस्यों को चुन करके ब्रिटिश संसद का सदस्य बनाने का प्रावधान किया जाय । द्वितीय मांग यह की गयी कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की जाय । इन सदस्यों को यह अधिकार देने की

भी मांग की गयी कि वे बजट पर मत विभाजन की मांग भी कर सकें । तृतीय संवैधानिक प्रस्ताव यह किया गया कि विधान परिषदों द्वारा चुने गये सदस्यों को लन्दन स्थित भारत सचिव की कौंसिल का सदस्य बनाया जाय । इसी प्रकार से भारत सरकार की कार्यकारिणी परिषद् और बम्बई तथा मद्रास की कार्यकारिणी परिषद् में भी चुने हुए सदस्यों को स्थान देने की मांग की गयी ।[24]

1904 के कांग्रेस के प्रस्तावों से यह प्रकट होता है कि कांग्रेस का ध्यान फिर भावी संविधान के परिवर्तन की ओर था। पूर्ववर्ती कौंसिल अधिनियम के पारित हुये बारह वर्ष बीत चुके थे । कांग्रेस नेतृत्व ने समझा कि उचित अवसर आ गया है जब अनेक प्रकार के संवैधानिक सुधारों की मांग की जाय । इनमें सबसे महत्वपूर्ण मांग थी भारत सचिव की कौंसिल में, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में और प्रान्तीय गवर्नरों की कार्यकारिणी परिषद् में चुने हुये भारतीयों को स्थान देना । अभी तक कांग्रेस केवल विधायी कार्यों में अधिकारों की मांग कर रही थी और विधानसभाओं के गठन तथा उनके अधिकारों पर बल दे रही थी लेकिन अब कांग्रेस ने प्रान्तीय, केन्द्रीय और गृह सरकार के स्तर पर नियन्त्रण करने वाली कार्यकारिणी में भारतीयों की भागीदारी और सदस्यता का दावा किया । यह दावा कोई खोखला दावा नहीं था। आने वाले वर्षों में कांग्रेस की इस मांग का उत्तर ब्रिटिश सरकार अथवा भारत सरकार को देना पड़ा । जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

काँग्रेस की सक्रियता तब और भी प्रकट हो गयी जब 1904 के अधिवेशन में उसने एक और असाधारण कदम उठाया । इस समय कांग्रेस ने निर्णय लिया कि वह आगामी वर्ष होने वाले ब्रिटेन के आम चुनावों के समय एक प्रतिनिधि मण्डल ब्रिटेन भेजेगी । कांग्रेस के प्रतिनिधि मण्डल को भेजने के लिए तीस हजार रूपये की धनराशि भी उपलब्ध करायी गयी । अब तक कांग्रेस को यह स्पष्ट हो चुका था कि भारत के संवैधानिक परिवर्तनों में शीघ्रता तभी आ सकती थी और कारगर उपाय तभी हो सकते थे जब ब्रिटिश राजनीति में भारत के पक्ष को प्रस्तुत किया जाय । इसका सबसे अच्छा अवसर आम चुनाव का समय था। कांग्रेस ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से सीधा सम्पर्क करके और ब्रिटेन जाकर अपनी मांगों पर ध्यान दिलाने का निर्णय इसी दृष्टि से लिया ।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि 1885 से 1905 के बीच के बीस वर्षों में कांग्रेस ने जिन गम्भीर प्रश्नों पर निरन्तर चर्चा की उनमें संवैधानिक सुधार सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण था। यह इसी से प्रमाणित होता है कि संभवतः कोई ऐसा वर्ष बीता हो जब कांग्रेस अधिवेशनों में संवैधानिक परिवर्तनों की चर्चा न हुयी हो और कोई न कोई प्रस्ताव पारित न हुआ हो । अतः यह प्रश्न कांग्रेस के नेतृत्व के मस्तिष्क पर लगातार छाया रहा। उससे कांग्रेस के नेताओं की रूचि का पता चलता है ।

ये वर्ष कांग्रेस के लिए प्रतीक्षा के वर्ष थे । उदारवादी विचारों वाले कांग्रेसी नेताओं ने प्रार्थना और प्रस्तावों की नीति का अनुसरण किया ।अतः

वे लगातार अधिवेशनों में चर्चा करते समय भाषणों और सभाओं से अपनी बात कहते रहे और अलग-अलग तर्क देकर संवैधानिक सुधारों की आवश्यकता बताते रहे । विचारणीय यह भी है कि कांग्रेस के हाथों लगा क्या ? और इसकी उपलब्धि क्या रही ? इसका एक उत्तर तो यह है कि सरकार को 1892 का कौंसिल अधिनियम पारित करना पड़ा । उसमें प्रतिनिधि व्यवस्था को परोक्ष रूप से अपनाना पड़ा । पहले से मनचाहे मनोनयन के स्थान पर संस्थाओं की संस्तुति के आधार पर मनोनयन का कदम उठाना पड़ा ।

इस अवधि में यह विचार भी धीरे-धीरे पनप रहा था कि आगामी संवैधानिक सुधारों का प्रयोग प्रान्तीय स्तर पर करना उपयुक्त होगा । दूसरे शब्दों में केन्द्रीय शासन व्यवस्था को स्वेच्छाचारी और अनुत्तरदायी बनाने तथा प्रान्तीय शासन व्यवस्था को कुछ न कुछ प्रजातान्त्रिक स्वरूप देने की नीति पर विचार करना आरम्भ हो गया था जिसका प्रतिफल आगामीदशकों में लगातार दिखायी दिया। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत में स्वेच्छाचारी तथा एकतन्त्रीय शासन व्यवस्था को बनाये रखने के प्रति अंग्रेजों ने मनोभावना बना रखी थी। उसके कारण आरम्भ में संवैधानिक सुधारों की गति मन्द अवश्य बनी रही लेकिन 1905 के उपरान्त कांग्रेस के प्रस्तावों की उपेक्षा नहीं हो सकी और सरकार को संवैधानिक परिवर्तनों के लिए कदम उठाने पड़े । गुरूमुख निहाल सिंह ने सर्वथा उचित ही कहा है कि "1892 का भारतीय कौंसिल अधिनियम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्य का पहला परिणाम था।"[25]

सन्दर्भ

1. बी॰पी॰सीतारमैय्या, दि हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, (मद्रास, 1935). पृष्ठ 86.
2. के॰आर॰ बम्बवाल, इण्डियन पॉलिटिक्स एण्ड गवर्नमेंट, पृ॰ 46-52.
3. एस॰आर॰ मेहरोत्रा, दि इमरजेन्स ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, (न्यू दिल्ली, 1972), पृ॰ 60-65.
4. अनिल सील, दि इमरजेन्स ऑफ इण्डियन नेशनलिस्म, (कैम्ब्रिज, 1968), पृ॰ 40-45.
5. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, 1988, पृ॰ 6-7.
6. हीरालाल सिंह, प्राब्लमस एण्ड पॉलिसीज ऑफ दि ब्रिटिश इन इण्डिया, (बम्बई, 1963), पृ॰ 165-180.
7. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (बम्बई, 1885), प्रस्ताव सं॰ 5.
8. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (कलकत्ता, 1888), प्रस्ताव सं॰ 4.
9. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (मद्रास, 1887), प्रस्ताव सं॰ 6.
10. वही, (इलाहाबाद, 1888), प्रस्ताव सं॰ 9.
11. वही, (बम्बई, 1889), प्रस्ताव सं॰ 2.
12. सी॰एच॰ फिलिप्स, दि इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, 1885-1947, सेलेक्ट डाकूमेन्टस, पृ॰ 64.
13. लार्ड न्यूटन, लार्ड लेन्सडाउन, ए बायोग्राफी, (लन्दन, 1929), पृ॰ 73.

14. सी॰ एच॰ फिलिप्स, पूर्वोक्त, पृ॰ 66.

15. ए॰ सी॰ बनर्जी, इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डाकूमेन्टस, जिल्द एक, पृ॰ 44.

16. वही, पृ॰ 46-47.

17. गार्डन जान्सन, प्राविन्सियल पॉलिटिक्स एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म, (कैम्ब्रिज, 1973), पृ॰ 19-23.

18. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (इलाहाबाद, 1892), प्रस्ताव सं॰ 4.

19. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (मद्रास, 1894), प्रस्ताव सं॰ 4.

20. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (कलकत्ता, 1896), प्रस्ताव सं॰ 8.

21. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (मद्रास, 1894), प्रस्ताव सं॰ 5.

22. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस रिपोर्टिंग, 1897, 1899, 1900.

23. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (बम्बई, 1904), प्रस्ताव सं॰ 6.

24. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (बम्बई, 1904), प्रस्ताव सं॰ 3.

25. गुरमुख निहाल सिंह, लैण्ड मार्क्स इन इण्डियन कांस्टीटयूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेण्ट, (दिल्ली, 1963), पृ॰ 107.

द्वितीय अध्याय

1909 का कौंसिल अधिनियम और कांग्रेस

- बंगाल विभाजन और कांग्रेस में उभरती उग्रवादी लहर
- मार्ले और मिण्टो का दृष्टिकोण
- कांग्रेस की मांग पर ब्रिटिश प्रतिक्रिया
- गोखले की मध्यस्तता
- 1908 की मद्रास कांग्रेस
- 1909 का सुधार अधिनियम और कांग्रेस
- गोखले द्वारा प्रस्तुत संवैधानिक सुधार योजना
- कांग्रेस- लीग संवैधानिक सुधार योजना
- उन्नीस राष्ट्रनेताओं का प्रतिवेदन

-

1905 से भारतीय राजनीति का रूपान्तरण हुआ । इसकी समूची विचारधारा में आमूल परिवर्तन हुये । विशेषरूप से कांग्रेस के दृष्टिकोण में असाधारण परिवर्तन आया । बीस वर्षों तक कांग्रेस ने प्रतीक्षा की नीति अपनायी थी । वह ब्रिटिश सरकार से संवैधानिक परिवर्तनों की अपेक्षा करती रही । इन दो दशकों में हुये सुधारों से उसे कोई सन्तोष नहीं हुआ । ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस में असन्तोष के स्वर तीव्र हुये । 1905, 1906 और 1907 के कांग्रेस अधिवेशन इस तथ्य के प्रमाण थे कि कांग्रेस का एक वर्ग तेजी से परिवर्तनों का पक्षधर था और लगातार प्रार्थना करने और अपील करने की कांग्रेस की नीतियों को छोड़कर अपने बल-बूते पर राजनीति में तेजी लाने का समर्थक था । बंगाल विभाजन के परिणाम स्वरूप कांग्रेस में उपजे उग्रवाद ने जो अनेक प्रश्न खड़े कर दिये उनसे तत्कालीन भारत सरकार और ब्रिटिश सरकार को भी संवैधानिक प्रश्नों पर नये सिरे से विचार करना पड़ा । ब्रिटिश नीति हो गयी "सुधार और दमन" अर्थात् उग्रवादियों का दमन तथा उदारवादियों को उत्साहित करने के लिये सुधार । कांग्रेस के एक असन्तुष्ट वर्ग के प्रभाव को कम करने की तथा कांग्रेस के दूसरे वर्ग को प्रोत्साहित करने की नीति 1905 के बाद के वर्षों में अपनायी गयी । इसी से 1909 का भारतीय कौंसिल अधिनियम पारित किया गया । जिसकी विस्तृत चर्चा यथास्थान की जा रही है ।

बंगाल विभाजन और कांग्रेस में उभरती उग्रवादी लहर-

1885 से 1905 के बीस वर्षों के अनुभवों के बाद कांग्रेस में असंतोष उभरना अस्वाभाविक नहीं था । इस समय तक भारत में शिक्षित मध्यम वर्ग की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुयी थी । नये - नये लोग कांग्रेस

में सम्मिलित हुये थे । पहले के नेताओं की पकड़ कमजोर हुयी थी और कांग्रेस में उग्रवादी विचारधारा पनपी जिसका लक्ष्य था – स्वराज और जो वर्ग बल तथा शक्ति द्वारा स्वराज प्राप्त करने की बात करने लगा । इसी समय लार्ड कर्जन ने कांग्रेस की शक्ति को कमजोर करने के उद्देश्य से 1905 में बंगाल के विभाजन का निर्णय लिया । जिसके परिणाम स्वरूप कांग्रेस में एक दल बना जो उग्रवादी कहलाया तथा ये अभी तक चली आ रही ब्रिटिश सरकार के प्रति कांग्रेस की नीतियों में परिवर्तन के हिमायती थे । ऐसी स्थिति में कांग्रेस का दूसरा वर्ग अर्थात् उदारवादी वर्ग चुपचाप तो नहीं बैठा तथा उसे भी ब्रिटिश सरकार से यह कहना पड़ा कि पहले से अधिक प्रभावी संवैधानिक सुधारों की आवश्यकता है।

1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन ने परिवर्तित राजनीति के संकेत दिये । गोपाल कृष्ण गोखले इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे । वे कांग्रेस के उदारवादी स्वरूप को यथावत् बनाये रखना चाहते थे । यही बात उन्होंने अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये कही । कांग्रेस ने 1905 में जो प्रस्ताव पारित किया उसमें सरकार पर जोर देने की नीति अपनायी गयी । अपने प्रस्ताव में कांग्रेस ने कहा कि "समय आ गया है जब केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों का और विस्तार किया जाय ताकि ये संस्थायें जनता की वास्तविक प्रतिनिधि हो जाय और इनके गैर सरकारी सदस्यों को सरकार के कार्यों में वास्तविक बात कहने का अवसर हो।"[1] इस प्रस्ताव के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदारवादी प्रभुत्व बनाये रखते हुये भी कांग्रेस ने जनता के वास्तविक प्रतिनिधि होने की मांग की और यह दावा किया कि उसकी बात सरकार सुने ।

आगामी कांग्रेस अधिवेशन 1906 में कलकत्ता में हुआ जिसमें उग्रवादियों ने यह जोर दिया था कि कांग्रेस अपने लक्ष्य में परिवर्तन करे। इस अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये दादा भाई नौरोजी ऐसे वरिष्ठ ने अपने अध्यक्षीय भाषण में "स्वराज" शब्द का उपयोग किया और इसके प्रति सहानुभूति दिखायी। यह प्रथम अवसर था जबकि कांग्रेस के मंच से स्वराज के प्रति निष्ठा व्यक्त की गयी जो राजनीति के बदलते स्वर और कांग्रेस के बदलते स्वरूप का परिचायक था। इस कांग्रेस के प्रस्ताव किसी भी अन्य अधिवेशन के प्रस्तावों की तुलना में अधिक सशक्त थे। प्रस्ताव के आरम्भ में इस प्रकार कहा गया – " यह कांग्रेस ऐसा विचार प्रकट करती है कि अन्य स्वशासित ब्रिटिश उपनिवेशों में अपनायी गयी प्रशासनिक व्यवस्था को भारत में भी अपनाया जाय और इस दिशा में कदम उठाये जाय।"[2] यह पहली बार था कि कांग्रेस ने आधारभूत संवैधानिक परिवर्तन की मांग की थी। आधारभूत इसलिये क्योंकि अभी तक पिछले बीस वर्षों में केवल ब्रिटिश शासन का सहयोगी बनने का दावा किया गया था। ब्रिटिश शासन में भागीदारी की मांग की गयी थी लेकिन अब कांग्रेस का लक्ष्य इससे कहीं आगे हो गया था। कांग्रेस ने औपचारिक रूप से यह मांग की कि कनाडा और आस्ट्रेलिया के लोगों को जिस प्रकार के स्वशासन के अधिकार मिले हुये थे उसी प्रकार के स्वशासन के अधिकार भारतीयों को भी मिलें। 1906 की कांग्रेस ने औपचारिक प्रस्ताव में स्वराज के स्थान पर "स्वशासन" की मांग की परन्तु यह मांग भी कम क्रान्तिकारी नहीं थी, इससे कांग्रेस के राजनीतिक आदर्श तथा उद्देश्य बदलते हुये दिखायी दिये।

यद्यपि 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में उग्रवादी दल की सारी बातें स्वीकार कर ली गयीं थी परन्तु उदारवादी दल उन सभी कार्यक्रमों को प्रभावी करने को तैयार नहीं था । ब्रिटिश सरकार भावी सुधारों की बात-चीत कर रही थी । इसलिये उदारवादी सरकार के विरुद्ध किसी भी प्रकार का आंदोलन चलाने के पक्ष में नहीं थे । इतना ही नहीं उदारवादी कांग्रेस के संविधान में संशोधन करके 1906 में स्वीकृत- औपनिवेशिक स्वराज, विदेशी कपड़े का बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के अपनाने के सिद्धान्त को समाप्त करना चाहते थे किन्तु उग्रवादी इसके लिये तैयार नहीं थे । इसलिये कांग्रेस के दोनों गुटों में मतभेद की खाई चौड़ी होती गयी । 1907 में सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो दोनों गुटों ने कांग्रेस पर अपना-अपना प्रभुत्व जमाने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न किया । जब उदारवादियों की ओर से रास बिहारी घोष का नाम अध्यक्षता के लिये प्रस्तावित किया गया तो उग्रवादियों की ओर से जोरदार विरोध की आवाजे आने लगी क्योंकि उग्रवादी लाला लाजपतराय का नाम प्रस्तावित कर रहे थे । इस घटना से इतने मतभेद बढ़ गये कि उदारवादियों ने उग्रवादियों के लिये कांग्रेस का द्वार बन्द करने का निश्चय किया । उन्होंने अधिवेशन में आये अपने-अपने समर्थकों की अलग बैठक बुलाकर एक विशेष समिति गठित की । बाद में हुयी इसकी बैठक में कांग्रेस का एक संविधान बनाया गया । इसके द्वारा संवैधानिक उपायों से "स्वशासन का अधिकार प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया ।" प्रत्येक सदस्य को इसे लिखित रूप में स्वीकारना अनिवार्य बना दिया गया । सदस्यता के नियमों में भी परिवर्तन किया गया । इस सम्पूर्ण कार्यवाही का उद्देश्य था उग्रवादियों को कांग्रेस से बाहर करना । कांग्रेस में उनके बने रहने की ऐसी शर्तें रखी गयी थी जिन्हें स्वीकारने को न तो वे तैयार हुये तथा न वे तैयार हो सकते थे । परिणाम यह हुआ कि उग्रवादी आगामी नौ वर्षों तक कांग्रेस से अलग रहे।

ब्रिटिश सरकार ने भी इस स्थिति का लाभ उठाया । उसने कांग्रेस के दोनों वर्गों के प्रति पृथक-पृथक नीति अपनायी । उग्रवादी आंदोलन को कुचलने के लिये दमन की नीति का सहारा लिया तथा उदारवादियों का उत्साह बढ़ाने के लिये भावी सुधार योजना पर बातचीत शुरू की गयी ।

कांग्रेस का 1909 का अधिवेशन तो अनेक दृष्टि से विस्फोटक था । सूरत-विभाजन के कारण यह अधिवेशन कांग्रेस के भीतर उपजे विवाद को मुखरित करता हुआ दिखाई दिया । इस विवाद की जड़ में सरकार पर अधिक दबाव डालने तथा राजनीतिक में तीव्रता लाने की मांग थी ।

मार्ले और मिण्टो का दृष्टिकोण-

1905 से 1909 तक हुये संवैधानिक परिवर्तनों में दो व्यक्तियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । इनमें से पहला था लार्ड मिण्टो जिसने 1905 में गवर्नर - जनरल का पद संभाला था और दूसरा व्यक्ति था जॉन मार्ले जिसने भी इसी समय भारत सचिव का पद संभाला था ।

इसी समय भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाली घटना घटी । वह थी 1905 में ब्रिटेन का आम चुनाव । इसमें उदारवादी दल की विजय हुयी । पहली बार मजदूर दल ब्रिटिश संसद में पर्याप्त संख्या में पहुँचे थे । संसद में उदारवादियों के बहुमत से और मजदूर दल के प्रभाव से कांग्रेस को यह आशा बँधी थी कि उसकी संवैधानिक मांगों पर अधिक सहानुभूति पूर्वक विचार किया जायेगा । कर्जन ने अपने सात वर्षों के शासन काल में लगातार कांग्रेस की उपेक्षा की थी और सार्वजनिक रूप से उसे समाप्त करने की भी इच्छा व्यक्त की थी । उसके शासन काल में कांग्रेस और भारत सरकार के बीच विरोध की स्थिति बनी रही थी परन्तु कर्जन के जाने के पश्चात्

ब्रिटिश संसद में नये राजनीतिक समीकरण उभरे तथा नये भारतीय गवर्नर तथा भारत सचिव की नियुक्तियाँ होने से यह निश्चित हो गया था कि संवैधानिक कार्यक्रम को नयी दृष्टि से देखा जायेगा और ऐसा हुआ भी । आरम्भ में ही कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के सम्बन्धों में सुधार की चर्चा करना उपयुक्त होगा । इस दृष्टि से अप्रैल 1906 में वायसराय का लिखा हुआ पत्र उद्धृत करना उचित होगा । उसने लिखा :-

"मैं सोचता हूँ कि कांग्रेस के अस्तित्व की उपेक्षा करना एक त्रुटि होगी ------ और यह भी त्रुटि होगी कि कांग्रेस को अलग कर दिया जाय और भारत के वर्तमान इतिहास में उसकी भूमिका को स्वीकारा न जाय।"[3]

एक महीने बाद नवनियुक्त वायसराय ने प्रायः इसी नीति को दोहराते हुये पुनः कहा :- "मैं सोचता हूँ कि हमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भारतीय राजनीति का एक प्रमुख कारक मानना होगा और इसे उपेक्षित करना उचित नहीं होगा।"[4]

वायसराय की इस स्वीकारोक्ति का अर्थ यह नहीं कि उसने कांग्रेस की मांगों को जैसा का तैसा मान लिया अथवा कांग्रेस की माँगों को जैसा का तैसा मानने को तैयार था । गवर्नर-जनरल ने केवल उस वास्तविकता को स्वीकारा जो स्थान कांग्रेस ने भारतीय राजनीति में बीस वर्षों में बना लिया था । लेकिन ब्रिटिश वायसराय का मुख्य लक्ष्य था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की वास्तविकता को मानते हुये ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को मजबूत करना । उसने अपने मूल उद्देश्य में कोई समझौता नहीं किया और जो भी सुधार योजना स्वीकारी वह उसकी विवशता थी सद्इच्छा नहीं, वह उसकी कूटनीति थी, सहानुभूति नहीं । अतः यह देखना होगा कि कांग्रेस की शक्ति को मानते हुये भी ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की

पकड़ को मजबूत बनाये रखने के लिये एक प्रकार की दोहरी नीति किस प्रकार अपनायी । दोहरी नीति इसलिये क्योंकि एक ओर उन्हें कांग्रेस की इच्छाओं की अनदेखी नहीं करना था और दूसरी ओर 1858 से चलते हुये 1861 और 1892 में दोहराते हुये ब्रिटिश शासन के निरंकुश स्वरूप को बनाये रखना था । यदि इस वास्तविकता को जान लिया जाय तो यह भी प्रकट हो जाता है कि कांग्रेस-ब्रिटिश सम्बन्धों की समस्यायें क्या थी ?

कांग्रेस की माँग पर ब्रिटिश प्रतिक्रिया -

इन बदली हुयी परिस्थितियों में कांग्रेस की संवैधानिक सुधारों की मांग पर तथा वायसराय और भारत सचिव की प्रतिक्रिया पर विचार करना आवश्यक है । यह भी देखना है कि 1905 के सुधार कार्यक्रम की ओर बढ़ते हुये कांग्रेस पर कितना ध्यान दिया गया । दूसरे शब्दों में यह देखना है कि कांग्रेस के दबाव और कांग्रेस की राजनीति ने ब्रिटिश अधिकारियों को सुधार कार्यक्रम बनाने के लिये किस सीमा तक विवश किया । मार्ले और मिण्टो के बीच हुये पत्र व्यवहार के सन्दर्भ में इसकी परीक्षा की जा सकती है । 15 जून 1906 को भारत सचिव ने वायसराय को इस प्रकार लिखा :- "मैं सोचता हूँ कि समय आ गया है कि लोकप्रियता की दिशा में सुधार करने की ओर अच्छा कदम उठाया जा सकता है । यदि हम ऐसा नहीं करते तो यह निश्चित है कि माँगों का विस्तार होगा और यें राष्ट्रीय माँगों का रूप ले लेगी।"[5] स्पष्टतः भारत सचिव कांग्रेस अधिवेशनों की ओर ध्यान दिला रहा था और उसने संवैधानिक प्रश्नों पर विचार करने का क्रम आरम्भ कर दिया । वायसराय ने भी अनेक पत्र भावी संवैधानिक योजना पर लिखे । प्रायः इन सभी पत्रों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कांग्रेस की माँगों की चर्चा की गयी थी । उच्चतम स्तर पर हुये विचार विमर्श में कांग्रेस एक प्रमुख तत्व था । 11.7.1906 को लिखे पत्र में वायसराय ने यह लिखा कि ऐसे उपाय करने होंगे जिससे "नयी पीढ़ी को

कांग्रेस से पृथक रखा जाय।" [6] कांग्रेस की आन्तरिक राजनीति की ओर वायसराय की पैनी दृष्टि लगातार बनी हुयी थी। उसने 4.11.1906 को अपने पत्र में तिलक और उनके दल के कांग्रेस के प्रभाव पर यह टिप्पणी की "जैसा आप जानते है कि तिलक की प्रसिद्धि अच्छी नहीं है और यदि वे तथा उनका दल कांग्रेस में प्रभाव प्राप्त कर लेता है तो फिर हम यही आशा कर सकते है कि वे लगातार ब्रिटिश सरकार के विरोधी रहेंगे।" इस स्थिति में भारत सरकार के सम्मुख एक ही विकल्प था जिसकी चर्चा करते हुये इसी पत्र में वायसराय ने लिखा :- "मैं सोचता हूँ कि उदारवादियों की ईमानदारी को स्वीकारते हुये भारत में बहुत कुछ किया जा सकता है चाहे हम उनसे सहमत भी न हो। मैं हमेशा कांग्रेस के नेताओं से मिलने को तैयार हूँ। शर्त यह है कि वे तर्क को न छोड़े। नरम कांग्रेस की मित्रतापूर्ण स्वीकृति मुझे विश्वास है लाभप्रद होगी।" [7]

वायसराय और भारत सचिव दोनों की नीतियों का केन्द्र बिन्दु था - कांग्रेस के उदारवादी तत्वों का समर्थन जीतना। यही कारण है कि 1906 से 1909 तक आगामी संवैधानिक योजना के विषय में उदारवादियों और सरकार के प्रतिनिधियों के बीच लम्बी वार्ता का क्रम गतिशील रहा जिसकी परिणिति 1909 के भारतीय कौंसिल अधिनियम में हुयी। भारत सचिव ने अपनी नीति को निर्धारित करते हुये कहा - "सुधारों से संभवतः ब्रिटिश राज बचाया न जा सके लेकिन अगर इनसे नहीं बचाया जा सकेगा तो फिर किसी और से भी नहीं।" [8] इस पत्र से पुनः स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को मजबूत करने के लिये कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करते हुये 1909 के भारतीय कौंसिल अधिनियम की ओर ब्रिटिश अधिकारियों ने कदम उठायें।

गोखले की मध्यस्तता -

ब्रिटिश संसद में भारतीय कौंसिल अधिनियम के चर्चा के समय एक असाधारण प्रश्न यह उठाया गया कि इस अधिनियम को अन्तिम स्वरूप देते समय भारत सचिव गोखले के प्रभाव में आ गये थे ।[9] पूर्व गवर्नर-जनरल कर्जन और लेन्सडाउन ऐसे राजनीतिज्ञों द्वारा संसद में लगाया गया यह आरोप एक नयी राजनीतिक स्थिति की ओर भी संकेत कर रहा था और वह था संवैधानिक निर्माण में कांग्रेसी नेताओं के परामर्श को स्थान मिले अथवा नहीं। ब्रिटिश संसद में विचार विमर्श से यह भी स्पष्ट हो गया कि प्रसिद्ध उदारवादी नेता और 1906 के कांग्रेस के अध्यक्ष ने इस संवैधानिक अधिनियम को पारित कराने में और उसका स्वरूप सुनिश्चित कराने में योगदान किया था और इससे भी महत्वपूर्ण यह भी है कि गृह सरकार ने उन्हें ऐसा अवसर दिया।

गोखले के प्रसिद्ध जीवनी लेखक ने इस उदारवादी कांग्रेसी नेता के कार्यों पर चर्चा करते हुये उसे "असाधारण प्रतिनिधि" और "भारत का वकील" इन दो शीर्षकों से चर्चा की । इससे भी प्रकट होता है कि गोखले ने 1906 से 1909 तक लगातार संवैधानिक सुधारों के पक्ष में वातावरण तैयार किया । इन तीन वर्षों के मध्य उन्होंने अनेक बार ब्रिटेन की यात्रा की और भारत सचिव सहित ब्रिटेन स्थित अनेक राजनीतिज्ञों से प्रभावी संवैधानिक सुधार करने की माँग की । गोखले को उत्साहित करने का सबसे प्रमुख कार्य ब्रिटेन स्थित उन कांग्रेसी राजनीतिज्ञों ने किया जो अंग्रेज थे, इनमें से हेनरी काटन और विलियम बैडरवर्न प्रसिद्ध थे । हेनरी काटन ने 1904 में ही कांग्रेस के अधिवेशन में कहा था : - " कि भारत के भाग्य का निर्णय भारत में नहीं होगा ।"[10] हेनरी काटन कांग्रेसी नेताओं से पुनः यह कह रहे थे कि उन्हें ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों को प्रभावित करने की योजना बनानी चाहिये क्योंकि अन्तिम

निर्णय तो ब्रिटिश संसद में होने थे । इसी परामर्श को ध्यान में रखते हुये गोखलेने 1906 से निरन्तर ब्रिटेन की यात्रायें की ।

यह विचारना तर्क संगत होगा कि गोखले की मुख्य माँग क्या थी ? इसका उत्तर उन्होंने स्वयम् इस प्रकार दिया :- " मेरी मुख्य मांग होगी भारत के लिये स्वशासन । एक शब्द में मेरी चर्चाओं का यही केन्द्र बिन्दु होगा। "[11] गोखले की इस आधारभूत मांग को स्मरण रखना आवश्यक है क्योंकि यही भावी राजनीति को विभाजित करने वाली रेखा थी और इसी से 1909 के संवैधानिक अधिनियम की सफलता और असफलता निर्धारित हुयी । गोखले ने अनेक बार ब्रिटेन की यात्रायें की । उन्होंने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को स्व-शासन की ओर कदम बढ़ाने के लिये बहुत प्रेरित किया लेकिन वे टस से मस नहीं हुये तथा 1909 के अधिनियम में वे ऐसा कोई भी कदम उठाने को तैयार नहीं हुये जिससे भारतीयों को स्वशासन मिलने की संभावना हो ।

गोखले ने संवैधानिक सुधार योजना के पक्ष में उचित वातावरण तैयार करने में अथक प्रयास किया और सतत अपनी मांग पर दृढ़ रहे । उनका योगदान यही था कि उन्होंने भारतीय गवर्नर-जनरल और भारत सचिव के बीच सम्पर्क सूत्र का काम किया, उनका विश्वास जीता और उन्हें आश्वासन दिया कि उचित संवैधानिक सुधार करके उदारवादी कांग्रेसी राजनीतिज्ञों को भारत में अधिक प्रभावी भूमिका निभाने का अवसर मिल सकता था ।

1908 की मद्रास कांग्रेस-

1908 में आयोजित मद्रास की कांग्रेस उदारवादियों की राजनीतिक प्रणाली का एक अच्छा चित्र प्रस्तुत करती है । गोखले लगातार यह भविष्य वाणी कर रहे थे कि यथाशीघ्र संवैधानिक योजना प्रस्तुत होने वाली है और कांग्रेस अधिवेशन के कुछ सप्ताह पहले ही ब्रिटिश सरकार ने अपनी योजना को प्रकाशित भी करा दिया । यद्यपि वास्तविक विधेयक बाद में पारित हुआ फिर भी कांग्रेस को सन्तुष्ट करने के लिये और उदारवादियों को पक्ष में रखने

के लिये यह योजना बनायी गयी थी । रास बिहारी घोष मद्रास कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष थे । उन्होंने ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामी भक्ति प्रकट करते हुये अपना भाषण दिया और हर प्रकार से भावी संवैधानिक सुधार को सराहा । सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस अधिवेशन में कहा कि यह हमारे संघर्ष की सफलता का चरम उत्कर्ष था । कांग्रेस अध्यक्ष ने एक आशा और प्रकट की थी । उनका कहना था कि भविष्य में "निरकुंशवादी और गैर उत्तरदायी सरकार के स्थान पर हमें बहुत कुछ संवैधानिक सरकार स्थापित करने का अवसर मिलेगा।"[12] इसी अधिवेशन में संवैधानिक सुधार के बारे में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पारित करते हुये कहा कि वह पूर्ण रूप से "सन्तुष्ट" है और संवैधानिक प्रस्तावों को प्रस्तुत करने के लिये अपना धन्यवाद ज्ञापित करती है । इस कांग्रेस के प्रस्तावों में यह आशा भी की गयी कि उदारवादी भावना के अनुरूप विधेयक पारित किया जायेगा ।[13]

वैसे तो यह सम्पूर्ण कार्यवाही ब्रिटिश सरकार के लिये पूर्ण सन्तोष का विषय थी लेकिन इससे यह भी दिखाई दे रहा था कि भारतीयों की आशाओं और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की नीतियों में पर्याप्त अन्तर था और जब आशाजनक भावनायें पूरी न हो सकी तो जितनी तीव्रता से संवैधानिक सुधारों की आशा की गयी थी उतनी तीव्रता से ही यह आशा निराशा में बदली । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अनेक वर्षों से चर्चाओं का क्रम गतिशील रहा । गोखले तथा अन्य राजनीतिज्ञ कांग्रेस के उदारवादी वर्ग को संवैधानिक सुधारों के लिये उत्साहित करते रहे लेकिन वह यह सामान्य सी बात भूल गये कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का उदारवादी चेहरा बनावटी था और उनका वास्तविक रूप अधिनियम की धाराओं से और उसके बाद बनाये गये नियमों से प्रकट हुआ । यही कारण है कि कांग्रेस ने जैसे संवैधानिक सुधारों की कल्पना की थी, आशा की थी, वैसे संवैधानिक सुधार न तो पारित किया गया और न कांग्रेसियों को सन्तुष्ट ही कर सका । इसी पृष्ठभूमि में गोखले के मद्रास अधिवेशन के भाषण को देखा जा सकता है ।

इसमें उन्होंने यह आशा प्रकट की थी कि भारतीयों को प्रशासन को प्रभावित करने के पर्याप्त अधिकार मिलेंगे । उन्होंने कहा :-

"हमें उच्चतम स्तर के प्रशासन तक पहुँचने के पर्याप्त अवसर होंगे । आर्थिक और प्रशासनिक मामलों को प्रभावित करने का अवसर होगा । इस बारे में हुये तर्क-वितर्क में हम भाग ले सकेंगे - - - - - हमारी इच्छा के बिना सरकार मनमाने ढंग से कोई कानून नहीं पारित कर पायेगी - - - - - प्रान्तीय प्रशासन को प्रभावित करने का हमें और भी अवसर होगा - - - - व्यावहारिक रूप में हमें इस योजना से सन्तुष्ट होना चाहिये।"[14]

1909 का सुधार अधिनियम और कांग्रेस -

नवम्बर 1909 को भारतीय कौंसिल अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कर दिया गया और दिसम्बर 1909 के कांग्रेस अधिवेशन में तथा उसके बाद अनेक अवसरों पर कांग्रेस ने अपनी निराशा और आलोचना व्यक्त की । हमें यह विचारना है कि इतने लम्बे परामर्श के बाद पारित किये गये अधिनियम से कांग्रेस क्यों सन्तुष्ट नहीं हो सकी तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे नरमदलीय नेता को कहना पड़ा : - " सुधार योजना के अधीन बनाये गये नियम और कानूनों से व्यावहारिक रूप में इसे नष्ट कर दिया गया।"[15]

इस सन्दर्भ में अधिनियम की मुख्य धाराओं और व्यवस्थाओं की चर्चा करना पर्याप्त होगा ।

1. अधिनियम के उद्देश्य-

अधिनियम के उद्देश्यों पर चर्चा करते हुये आधिकारिक रूप से भारत सचिव ने यह कहा :- "यदि यह कहा जाय कि मैं किसी भी प्रकार से भारत में

संसदीय प्रणाली स्थापित करने का प्रयास कर रहा हूँ अथवा यह सोचा जाय कि इन सुधारों द्वारा किसी भी प्रकार से संसदीय व्यवस्था की भारत में स्थापना होगी तो मुझे ऐसी सुधार योजना से कोई लेना-देना नहीं होगा -------- भारत में संसदीय व्यवस्था स्थापित करना मेरा उद्देश्य नहीं है और एक क्षण भी मैं ऐसे प्रयास नहीं कर रहा हूँ।"[15] इस प्रकार की भाषा तथा विचार भारत सचिव मार्ले ने और अनेक अवसरों पर व्यक्त करते हुये अपनी स्थिति को स्पष्ट किया और यह भी स्पष्ट किया कि वह भारत सम्बन्धी उस ब्रिटिश नीति में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं कर रहा जिसका निर्धारण पच्चास वर्षों पूर्व हो चुका था तथा उस लीक से हटने का विचार ब्रिटिश नीति के निर्माताओं का नहीं था । लक्ष्य के बारे में ब्रिटिश नीति और कांग्रेस नीति के अन्तर ने कांग्रेस के नेताओं की आशाओं पर पानी फेर दिया । कहाँ कांग्रेस के मंच से स्वराज और स्वशासन की बात हो रही थी और कहाँ ब्रिटिश सरकार यथावत् निरकुंश शासन व्यवस्था बनाये रखने का संकल्प व्यक्त कर रही थी । अधिक से अधिक वह इसमें थोड़ी बहुत रियायतें देने को तैयार थी । यें रियायतें कभी भी वास्तविकता का रूप ले सकती थी।

2. गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी और गवर्नर की कार्यकारिणी में भारतीय सदस्यों की नियुक्ति -

जो भी वास्तविक अथवा मजबूरी में कदम उठाये गये उनमें एक स्वागत योग्य 1909 में यह कदम भी उठाया गया कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् और गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् में एक अथवा दो भारतीय सदस्यों को मनोनीत करने का प्रावधान किया गया तथा वास्तविक रूप में ऐसी नियुक्तियाँ कर भी दी गयी । भारत सचिव और गवर्नर ने 1906 के बाद अनेक बार इस प्रश्न पर विचार किया क्योंकि लम्बे समय से कांग्रेस

उच्चतम स्तर पर भारतीयों की नियुक्ति की मांग करती आ रही थी । 1898 और 1899 में कांग्रेस अध्यक्षों के भाषण में लगातार कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की नियुक्ति की मांग की गयी थी । तब कर्जन ने इसे "राजनीतिक बकवास" कहकर ठुकरा दिया था ।[17] लेकिन कुछ वर्षों में ही यह राजनीतिक मांग यदि वास्तविकता बन गयी तो इसका कारण यह था कि यह अनुभव किया गया कि सभी स्तरों पर भारतीयों को सम्मिलित करना प्रशासनिक दृष्टि से उपयोगी होगा तथा उन्हें न नियुक्त करना खतरनाक होगा । इसी लिये कार्यकारिणी परिषद् में भारतीयों को स्थान दिया गया और एस०पी० सिन्हा जो कलकत्ता के प्रसिद्ध वकील थे वह सर्वप्रथम लार्ड मिण्टों की कार्यकारिणी के सदस्य बनाये गये । लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन में मदन मोहन मालवीय ने इस नियुक्ति का स्वागत किया जिससे स्पष्ट है कि कांग्रेस इस कदम से उत्साहित हुयी । प्रान्तीय गवर्नरों की कार्यकारिणी में भी 1910 में भारतीयों को स्थान दे दिया गया ।

3. विधान परिषदों की संख्या और उनके अधिकारों में बृद्धि -

पूर्ववर्ती विधान परिषदों की तुलना में 1909 में विधान परिषदों की संख्या में पर्याप्त बृद्धि की गयी । केन्द्रीय विधान परिषदों की अतिरिक्त संख्या सोलह से बढ़ाकर साठ कर दी गयी और प्रायः इसी अनुपात में प्रान्तीय कौंसिलों की संख्या में भी बृद्धि की गयी लेकिन केन्द्रीय विधान परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाये रखा गया जो यह प्रमाणित करता है कि अभी भी सरकार गैरसरकारी सदस्यों के बहुमत से डरी हुयी थी । मताधिकार के बारे में भी पहले से अधिक सराहनीय प्रयास किये गये । निर्वाचन का आधार वर्गों तथा सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व था ।

4. <u>साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली -</u>

मार्ले-मिण्टों सुधार योजना का सबसे आपत्तिजनक निर्णय था - पृथक चुनाव अथवा साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति । इस पद्धति के द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानमण्डल के लिये अलग से सीटें मुसलमान सदस्यों के लिये साम्प्रदायिक आधार पर सुरक्षित कर दी गयी । केवल इतना ही नहीं, यह भी निर्धारित कर दिया गया कि इन मुस्लिम सदस्यों के चुनाव में केवल इसी सम्प्रदाय के लोग भाग ले सकते थे । यह एक निराली पद्धति थी जिसके अनुसार एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों को ही यह अधिकार था कि वे अपने बीच के किसी प्रतिनिधि का चुनाव केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान परिषद् के लिये करें ।

1909 के अधिनियम के इस प्रावधान ने कांग्रेस की आशाओं पर पानी फेर दिया क्योंकि शीघ्र ही अनुमान हो गया कि सम्प्रदाय और सम्प्रदाय के बीच फूट डालने की नीति का आरम्भ किया जा रहा था तथा इस प्रावधान के दूरगामी परिणाम हुये । इस एक प्रावधान से यह भी प्रकट हो गया कि ब्रिटिश नीति निर्माता साम्राज्य की सुरक्षा के लिये कैसे-कैसे उपाय कर सकते थे ।

1908 के कांग्रेस अधिवेशन में जो आशा का स्वर उठा था वह कांग्रेस के निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित था । संवैधानिक परिवर्तनों पर कांग्रेस ने जो धारणायें बना रखी थी तथा उन्हीं के द्वारा यह आशा बधाई गयी थी कि ब्रिटिश सरकार पूरी ईमानदारी से कदम उठायेगी लेकिन जब ऐसा नहीं किया गया तथा 1909 के कौंसिल अधिनियम में चतुराई से काम किया गया तथा सम्प्रदायों में भेदभाव करने की कोशिश की गयी तब कांग्रेस ने अपना विरोध प्रकट करने में बिलम्ब नहीं किया इससे यह प्रकट होता है

कि कांग्रेस के नेता संवैधानिक परिवर्तनों को निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर देखने लगे थे। स्पष्ट है कि 1909 के अधिनियम पर चर्चा इसके बाद के अधिवेशनों पर भी चलती रही। अन्ततः जो नियम और कानून बनाये गये वे इतने प्रतिक्रियावादी थे कि कांग्रेस का शेष उत्साह भी तुरन्त ही समाप्त होने लगा जो इस सुधार योजना के निर्माताओं की बड़ी असफलता थी। एक प्रसिद्ध लेखक ने तो यहाँ तक कहा है कि "इस भारतीय कौंसिल अधिनियम के अधीन कानून केवल इसे नष्ट करने के लिये ही बनाये गये थे।"[18]

1910 के कांग्रेस के अधिवेशन में कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से अपने विचार प्रस्तुत किये जिससे यह ध्वनि निकलती है कि सम्पूर्ण नियमों और कानूनों के अनुसार की गयी कार्यवाही को देखकर कांग्रेस ने पूर्ण गम्भीरता से अपने विचार प्रकट करने की नीति अपनायी। कांग्रेस ने पृथक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की "कठोरता" से निन्दा की। प्रस्ताव में आगे कहा गया कि गत वर्षों के कानूनों को कांग्रेस अस्वीकार करती है। उसने यह मांग भी की कि चुनाव प्रक्रिया पर आवश्यक संशोधन कर दिये जाय और भेदभाव पूर्ण तरीकों को अपनाने की नीति को त्यागने का परामर्श दिया। एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच में जो भेदभाव अपनाया गया था उसका कांग्रेस ने विरोध किया।[19]

आगामी अधिवेशनों में भी कांग्रेस ने 1909 के अधीन अपनायी गयी चुनाव प्रणाली और नियमों की अनेक बार निन्दा की। जिस वास्तविक चुनाव प्रणाली की कांग्रेस पक्षधर थी तथा जिसकी आशा किये हुये थी उसे जब स्वीकार नहीं किया गया तो स्वाभाविक रूप से कांग्रेस को निराशा हुयी। 1913 के कांग्रेस के अधिवेशन को उद्धृत करना पर्याप्त होगा। इसमें यह कहा गया - "यह कांग्रेस अपनी घोर निराशा व्यक्त करते हुये कहती है कि पिछले चार-वर्षों से कांग्रेस द्वारा सरकार से बार-बार आग्रह करने के बाद भी विधान परिषदों के बारे में बनाये गये कानूनों से असमानताओं और विरोधाभासों को दूर करने के कोई उपाय नहीं किये गये।"[20]

प्रथम महायुद्ध के दौरान कांग्रेस नेताओं द्वारा प्रस्तुत संवैधानिक सुधार योजनायें-

प्रथम महायुद्ध से एक बार पुनः भारतीय राजनीति का स्वरूप बदला। उदारवादी कांग्रेसी नेताओं में वह उत्साह नहीं रह गया था जैसी अपेक्षा 1909 के अधिनियम के बाद की गयी थी । मार्ले-मिण्टो सुधार योजना से उदारवादियों की पकड़ कांग्रेस में मजबूत नहीं हुयी । इसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुये यह विचार प्रकट किया गया कि " सुधार पर आधारित कांग्रेस और भी निराशाजनक सिद्ध हुयी ।"[21] एक ओर उदारवादियों का प्रभाव कांग्रेस में घटता जा रहा था तो दूसरी ओर उग्रवादी कांग्रेसी नेताओं का दृष्टिकोण भी परिवर्तित दिखाई दे रहा था । जब तिलक 1914 में माण्डले जेल से लौटे तो उन्होंने और एनीबेसेन्ट ने अलग-अलग स्तरों पर होमरूल आन्दोलन प्रारम्भ किया । इस आन्दोलन का एक मात्र लक्ष्य था स्वशासन की मांग करना । इस प्रकार कांग्रेस के इन समर्थकों ने स्वशासन की मांग को और भी प्रभावी बनाने का काम किया।

प्रथम महायुद्ध के समय एक और स्वागत योग्य प्रवृत्ति दिखाई दी । यह थी कांग्रेसी नेताओं द्वारा स्वयम् संविधान सुधार योजनायें प्रस्तुत करना । इससे यह प्रकट होता है कि कांग्रेस के नेता अपनी ओर से कभी अकेले और कभी सामूहिक रूप से संवैधानिक सुधारों की अलग- अलग योजनायें बनाने लगे । यह भी उल्लेखनीय है कि ये योजनायें भारत सरकार या उसके किसी प्रतिनिधि के सामने प्रस्तुत की गयी जिससे यह प्रकट होता है कि अभी उद्देश्य था भारत सरकार की सहायता से और उसको प्रेरित करते हुये संवैधानिक सुधार करना ।

इस अवधि में प्रस्तुत तीन प्रमुख योजनाओं का विवरण दिया जा रहा है ।

1. गोखले द्वारा प्रान्तीय स्वायत्तता की संवैधानिक सुधार योजना ।
2. कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा अनुमोदित स्वशासन सम्बन्धी सुधार योजना ।
3. उन्नीस केन्द्रीय परिषद् के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन ।

इनका अलग-अलग विवरण इस प्रकार है :-

गोखले द्वारा प्रस्तुत संवैधानिक सुधार योजना :-

प्रसिद्ध उदारवादी कांग्रेसी नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने 11 फरवरी 1915 को अपने जीवन के अन्तिम कुछ दिनों में एक सुधार योजना तैयार की जिसे गोखले का दस्तावेज कहा जाता है । जिसका सबसे महत्वपूण बिन्दु था- प्रान्तों की स्वायत्तता का विचार । पिछले कुछ वर्षों से ब्रिटिश नीति निर्माता यह प्रकट कर चुके थे कि केन्द्र सरकार को निरंकुश रखना तथा केन्द्रीय शासन को मजबूत रखना उनकी आधारभूत नीति थी । गोखले ने इस तथ्य को स्वीकारा और यह विचार किया कि प्रान्तों को स्वायत्तता दी जाय अर्थात् प्रान्तीय स्तर पर प्रतिनिधि शासन स्थापित किया जाय जिसमें भारतीयों की भागीदारी हो । यह इस प्रसिद्ध नेता की राजनीतिक सूझ-बूझ थी कि उसने ब्रिटिश नीति को मानते हुये प्रान्तों में वास्तविक प्रतिनिधि सरकार की स्थापना का विवरण प्रस्तुत किया । अपने विस्तृत विवरण में उन्होंने कहा कि गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् में छः सदस्य होने चाहिये जिसमें तीन भारतीय और तीन यूरोपीय हो । प्रान्तीय परिषद् के विषय में मत था कि इन परिषदों की सदस्य संख्या पचहत्तर से सौ होनी चाहिये और कम से कम अस्सी प्रतिशत सदस्य चुने जाने चाहिये । उनका विचार था कि सभी विषय और बजट प्रान्तीय विधान सभा द्वारा पारित होना चाहिये । उन्होंने गवर्नर को वीटो का अधिकार देना स्वीकार किया और यह भी माना कि गवर्नर जनरल की

कार्यकारिणी के सदस्यों को कार्य करने के लिये प्रान्तीय परिषद् का विश्वास जीतना आवश्यक नहीं था । दूसरे शब्दों में प्रान्तीय कार्यकारिणी को प्रान्तीय परिषद् के प्रति उत्तरदायी बनाने की बात गोखले ने नहीं सोची । केन्द्रीय विधान परिषद् के अधिकारों के बृद्धि की बात तो गोखले ने की लेकिन सरकारी तथा मनोनीत सदस्यों के बहुमत के सिद्धान्त को उन्होंने स्वीकारा । अपनी संवैधानिक योजना में गोखले का यह भी कहना था कि भारत सरकार को भारत सचिव के नियन्त्रण से मुक्त किया जाय । भारत सचिव की कौंसिल को समाप्त करने का सुझाव उन्होंने दिया ।

गोखले के इस राजनीतिक दस्तावेज से प्रकट होता है कि वे एक व्यावहारिक योजना प्रस्तुत कर रहे थे । जिसे सरकार स्वीकार कर सके और जिसे स्वीकार करने में अधिक बिलम्ब भी न हो । इसका महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि आगामी 1919 के सुधारों का बहुत कुछ अनुमान गोखले की योजना में था ।[22]

कांग्रेस – लीग संवैधानिक सुधार योजना :-

1916 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने मिलकर एक भावी संविधान के स्वरूप पर समझौता किया । दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों ने मिलकर यह निश्चय किया कि किस प्रकार की संवैधानिक योजना उन्हें स्वीकार हो सकती थी । इस संवैधानिक योजना में भी मुख्य ध्यान दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों का समुदायों के प्रतिनिधित्व पर था । ये दोनों प्रमुख राजनीतिक दल ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाल करके संवैधानिक सुधार कराना चाहते थे । प्रान्तीय विधान परिषदों के विषय में कहना था कि इसके 4/5 सदस्य चुने जाय और 1/5 सदस्य मनोनीत हो । बड़े प्रान्तों के परिषदों की संख्या एक सौ पच्चीस तथा छोटे प्रान्तों के परिषदों की संख्या पच्चास से पचहत्तर प्रस्तावित की गयी ।

गयी सदस्यों के चुनाव के विषय में यह कहा गया कि "परिषदों के सदस्यों का चुनाव सीधे जनता द्वारा हो और अधिक से अधिक लोगों को चुनाव में भाग लेने का अवसर मिले।" इस योजना का सबसे उल्लेखनीय पक्ष था - कांग्रेस द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली या अलग प्रतिनिधित्व के 1909 के सिद्धान्त को स्वीकार करना और इस विषय में अलग-अलग प्रान्तों से चुनकर आने वाले मुसलमान सदस्यों की संख्या निर्धारित करने का प्रस्ताव किया गया । यह आवश्यक नहीं था कि मुसलमान सदस्यों को उसी अनुपात में परिषद् में स्थान मिले जैसा उनका विभिन्न प्रान्तों में जनसंख्या में अनुपात था । यह इस तथ्य से प्रकट हो जाता है कि उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की संख्या चौदह प्रतिशत थी फिर भी उन्हें तीस प्रतिशत मुस्लिम सदस्य भेजने की सहमति हुयी । इसी प्रकार से बिहार और उड़ीसा में मुसलमानों का अनुपात जनसंख्या के आधार पर दस प्रतिशत होते हुये भी यह स्वीकार किया गया कि परिषद में उनके प्रतिनिधियों की संख्या पच्चीस प्रतिशत होगी । मद्रास में छः प्रतिशत मुसलमान थे लेकिन उनके सदस्यों का प्रतिशत पन्द्रह निर्धारित किया गया ।[23] इस प्रकार समझौते में "भार" के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया अर्थात् महत्व के अनुसार किसी धार्मिक समुदाय को उस प्रान्त की जनसंख्या के बहुमत से अधिक प्रतिनिधित्व मिलने का अधिकार । यह एक राजनीतिक समझौता था और इसके अनुसार अनेक स्तरों पर संविधान के स्वरूप के विषय में , परिषदों की संख्या और उनके अधिकारों के विषय में प्रस्ताव पारित किये गये । एक सविस्तार योजना बनायी गयी जिसमें भारत सचिव की कौंसिल को समाप्त करने की बात कही गयी और गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में कम से कम आधे सदस्यों को नियुक्त करने की मांग की गयी तथा यह भी कहा गया कि भारत सरकार प्रान्तीय सरकार के मामले में कम से कम हस्तक्षेप करें।

3. उन्नीस राष्ट्नेताओं का प्रतिवेदन-

केन्द्रीय विधान परिषद के उन्नीस गैर-सरकारी चुने हुये सदस्यों ने अक्टूबर 1916 को संवैधानिक सुधार करने के लिये एक प्रतिवेदन वायसराय के सम्मुख प्रस्तुत किया । इसमें यह आशा प्रकट की गयी कि प्रथम महायुद्ध के बाद पर्याप्त प्रशासनिक परिवर्तनों की ओर ध्यान दिया जायेगा । इस प्रतिवेदन में कुछ मुख्य मांगे इस प्रकार थी -

1. प्रान्तीय तथा केन्द्रीय स्तर के गवर्नर और गर्वनर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में कम से कम आधे भारतीय सदस्यों की नियुक्ति का प्रावधान हो ।
2. सभी विधान परिषदों में चुने हुये सदस्यों का पर्याप्त बहुमत हो ।
3. केन्द्रीय विधान परिषद में कम से कम एक सौ पच्चास और प्रान्तीय विधान परिषद में सौ सदस्य हो ।
4. बजट को अर्थ विधेयक के रूप में प्रस्तुत किया जाय और भारत को आर्थिक स्वतन्त्रता मिले ।
5. केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों को सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार हो और प्रशासन के मामले में प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार हो । गर्वनर और गर्वनर जनरलों को निश्चित दशाओं तथा निश्चित सीमा में बीटों का अधिकार हो ।
6. भारत सचिव की कौंसिल को समाप्त कर दिया जाय और भारत सचिव के अधिकारों को सीमित किया जाय ।

7. प्रान्तीय सरकारों को अधिक से अधिक कार्य करने की स्वायत्तता मिले ।[24]

इन तीनों संवैधानिक सुधार योजनाओं में अनेक समानतायें थी जैसे भारत सचिव की कौंसिल को समाप्त करना भारत सरकार पर भारत सचिव के नियन्त्रण को कम करना, गर्वनर और गवर्नर जनरल की कार्य कारिणी परिषद् में कम से कम आधे भारतीय सदस्यों को स्थान देना, प्रान्तीय स्तर पर स्वायत्तता, प्रान्तीय और केन्द्रीय परिषदों की सदस्यों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि और इनमें चुने हुये सदस्यों का निर्णायक बहुमत । सदस्यों को विधि निर्माण और धन सम्बन्धी पर्याप्त अधिकार आदि । सबसे अधिक बल इस बात पर था कि वास्तविक प्रतिनिधि शासक का प्रावधान केन्द्रीय और प्रान्तीय स्तर पर हो । इन तीनों प्रस्तावों से यह भी अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि 1909 के अधिनियम के पारित होने के कुछ वर्षों बाद ही इसे पर्याप्त संशोधन करके एक नयी संविधान सुधार योजना की मांग कांग्रेस ने की । इन तीनों योजनाओं से यह भी स्पष्ट है कि कांग्रेस को भली-भाँति मालूम था कि प्रथम महायुद्ध के उपरांत संवैधानिक परिवर्तनों के लिये वातावरण बनाने की पहले से ही आवश्यकता थी । इसी कारण 1915 और 1916 से ही अनेक स्तरों पर ही कांग्रेस और कांग्रेस के नेताओं ने अपनी ओर से विस्तृत योजनायें प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया और यह भी ध्यान रखा कि ये योजनायें ऐसी हो जिन्हें ब्रिटिश सरकार स्वीकार कर सके ।

-

सन्दर्भ

1. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (बनारस, 1905), प्रस्ताव सं0 3.
2. इण्डियन नेशलन कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (कलकत्ता, 1906), प्रस्ताव सं0 2.
3. परद्युमन सिंह, लार्ड मिण्टो एण्ड इण्डियन नेशनलिस्म, (इलाहाबाद, 1976), पृष्ठ 3.
4. वही , पृष्ठ 3.
5. सी. एच. फिलिप्स (स0), दि इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, (लन्दन, 1962), पृष्ठ 95.
6. वही, पृष्ठ 77.
7. वही, पृष्ठ 78.
8. परद्युमन सिंह, लार्ड मिण्टो एण्ड इण्डियन नेशनलिस्म, (इलाहाबाद, 1976), पृष्ठ 5.
9. बी.आर. नन्दा, गोखले , (दिल्ली, 1977), पृष्ठ 315.
10. कांग्रेस प्रेसीडेन्सियल ऐड्रेसेस, 1885 से 1910, (मद्रास, 1935), पृष्ठ 666.
11. बी.आर. नन्दा, गोखले, (दिलीी, 1977), पृष्ठ 195.
12. वही, पृष्ठ 311.
13. रिपोर्ट ऑफ कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (मद्रास, 1908), पृष्ठ 38.
14. स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, (मद्रास, 1908), पृष्ठ 719.
15. गुरमुख निहाल सिंह, पूर्वोक्त, पृष्ठ 188.
16. लार्ड मार्ले का संसद में भाषण, 17. दिसम्बर 1908, सी. एच. फिलिप्स (सं0), दि इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, सेलेक्ट डाकूमेन्टस, पृष्ठ 85 से उद्धृत.

17. परद्युम्न सिंह, पूर्वोक्त, पृष्ठ 103.
18. बी.आर. नन्दा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 319.
19. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (इलाहाबाद, 1910) प्रस्ताव सं० 4 तथा 5.
20. इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, (करांची, 1913), प्रस्ताव सं० 3.
21. बी.आर. नन्दा , गोखले, (दिल्ली, 1977), पृष्ठ 361.
22. वही, पृष्ठ 468.
23. बी. पट्टाभि सीतारमैय्या, दि हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, 1935, अपेन्डिक्स 2.
24. ए. सी. बनर्जी (सं०,) इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डाकूमेन्टस, (कलकत्ता, 1946), जिल्द द्वितीय, पृष्ठ 355-363.

—

तृतीय अध्याय

1919 का भारतीय शासन अधिनियम और कांग्रेस

- 1917 की भारत सचिव की घोषणा.
- मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना.
- कांग्रेस का विशेष अधिवेशन.
- 1919 का भारत सरकार अधिनियम.
- कांग्रेस द्वारा भावी नीति पर निर्णय.
- कांग्रेस द्वारा इस अधिनियम के बहिष्कार का निर्णय.
- द्वैध शासन प्रणाली की असफलता.

–

प्रथम महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार को भारत के संवैधानिक भविष्य के प्रति नये दृष्टिकोण से विचार करना पड़ा । जब महायुद्ध का उद्देश्य यह घोषित किया गया कि " इस विश्व को प्रजातन्त्र के लिये सुरक्षित करना है ।" फिर स्वाभाविक रूप से भारत में किसी न किसी प्रकार की प्रजातान्त्रिक प्रणाली अथवा प्रजातान्त्रिक प्रणाली के किसी न किसी स्वरूप को अपनाने का उद्देश्य निर्धारित करने की आवश्यकता पड़ी। इस समय ब्रिटिश सरकार भारत में प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था लागू करने को तैयार नहीं थी । परन्तु वह कुछ न कुछ कदम इस ओर उठाना भी चाहती थी । ऐसी परिस्थिति में एक उद्देश्य था प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों को भारत में लागू करना तथा उत्तरदायी शासन व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्धता दिखाना और दूसरा उद्देश्य था स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था को भविष्य में भी बनाये रखना । ये दोनों उद्देश्य बहुत कुछ एक दूसरे के विरोधी थे । फिर भी इनमें सामंजस्य स्थापित करने का असफल प्रयास 1919 के संवैधानिक अधिनियम द्वारा किया गया । ब्रिटिश सरकार की नीति के अंतर्विरोधों के कारण ऐसे संवैधानिक परिवर्तन नहीं किये जा सके जिनसे कांग्रेस को सन्तोष होता और भारतीय राष्ट्रवादी नेता आश्वस्त होते कि भविष्य में संवैधानिक परिवर्तनों से देश में प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों को अपनाया जायेगा ।

यदि ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ अन्तर्विरोधों से ग्रसित थी तथा ब्रिटिश नीति निर्माताओं की करनी और कथनी में बहुत अन्तर था तो इसका प्रभाव कांग्रेस पर क्या पड़ा ? यह भी विचारणीय विषय है । यदि नीति निर्माता ही जान-बूझकर पेचीदा विधान बना रहे थे तो कांग्रेस पर उनके निर्णयों की प्रतिक्रिया से विवाद उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था । यही कारण है कि 1919 के संवैधानिक अधिनियम के पूर्व और उसके

पश्चात् भी संवैधानिक प्रश्नों पर कांग्रेस के अन्दर भी विवाद का क्रम चलता रहा । परन्तु फिर भी इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि कुछ सिद्धान्त ऐसे अवश्य थे, कुछ सुधारों की मांग ऐसी अवश्य थी जिन पर कांग्रेस के नेता अलग-अलग मंचों पर लगातार बल जोर देते रहे । इसी परिपेक्ष में इस समय के संवैधानिक सुधारों पर चर्चा की जा रही है ।

1917 की भारत सचिव की घोषणा -

अगस्त 1917 में तत्कालीन भारत सचिव, एडविन मान्टेग्यू. ने एक बहुत ही प्रशंसनीय संवैधानिक घोषणा ब्रिटिश संसद में की । ब्रिटिश नीति को स्पष्ट करते हुये उसने वक्तव्य दिया कि भारत स्थित ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य होगा भविष्य में " अधिक से अधिक भारतीयों को प्रशासन के प्रत्येक विभागों में सम्मिलित करना। " इसी के साथ-साथ यह भी घोषित किया गया कि "भारत में क्रमानुसार धीरे-धीरे उत्तरदायी सरकार" की स्थापना होगी । भारत सचिव ने यह भी घोषित किया कि "धीरे-धीरे स्वशासित संस्थाओं का विकास करना" ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य होगा ।[1]

भारत सचिव की घोषणा से कांग्रेस में आशायें जगी । कुछ माह पूर्व ही नये भारत सचिव ने अपना पदभार संभाला था और यह भी ज्ञात था कि वह उदारवादी विचारधाराओं का व्यक्ति था । अतः कांग्रेस जनों ने यह आशा की कि घोषणा के अनुसार तुरन्त ही कार्यवाही की जायेगी ।

कांग्रेस की अनुकूल प्रतिक्रिया उसके वार्षिक अधिवेशन से दिखायी दी । 1917 के कलकत्ता अधिवेशन में पारित प्रस्ताव में कांग्रेस ने कृतज्ञतापूर्वक संतोष व्यक्त करते हुये" भारत सचिव की घोषणा का स्वागत किया । इसी प्रस्ताव में कांग्रेस ने यह मत भी व्यक्त किया कि यथाशीघ्र एक संवैधानिक अधिनियम बनाया जाय जिसका उद्देश्य भारत में उत्तर-

दायी शासन की स्थापना करना हो । कांग्रेस ने यह मत भी व्यक्त किया कि आगामी संवैधानिक परिवर्तन करते समय उसके द्वारा अनुमोदित 1916 के कांग्रेस-लीग समझौते पर पूरी तरह से ध्यान दिया जाय ।[2]

इस घोषणा के पश्चात् भारत सचिव ने एक और सकारात्मक कदम उठाया । उन्होंने स्वयम् भारत आने का निर्णय लिया और नवम्बर 1917 से उनकी भारत यात्रा आरम्भ हुयी और कई महीने तक वह भारत में रहे । यह एक नवीन प्रक्रिया थी क्योंकि इसके पूर्व जो संवैधानिक अधिनियम पारित हुये थे उस समय ब्रिटिश सरकार ने न तो भारत सरकार से और न कांग्रेस से कोई परामर्श किया था । इस बार भारत सचिव ने स्वयम् भारत आकर वायसराय तथा अन्य सरकारी अधिकारियों से परामर्श करने के साथ-साथ कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दलों के नेताओं से भेंट की ।

इस अवसर पर कांग्रेस ने भारत सचिव को जो प्रतिवेदन दिया उससे कांग्रेस के उद्देश्यों के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । सर्वप्रथम कांग्रेस ने समय सीमा की बात उठायी क्योंकि अगस्त घोषणा ने ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया था कि पूर्ण उत्तरदायी शासन भारत में कब स्थापित होगा । अतः अपने प्रतिवेदन में कांग्रेस ने मांग की कि "स्वशासन" की स्थापना हेतु लगातार उपाय किये जाय और "एक के बाद एक निश्चित अवधि में उपाय करके" यथाशीघ्र इस उद्देश्य को प्राप्त किया जाय । कांग्रेस की दूसरी मांग थी कि भारत में भी उसी प्रकार की व्यवस्था प्रभावी की जाय जैसी आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि उपनिवेशों में लागू की गयी थी । कांग्रेस की तीसरी मांग यह थी कि सुधार अधिनियम के आरम्भ में पर्याप्त

परिवर्तनों की घोषणा हो । कांग्रेस आधारभूत अधिकारों के प्रति कितना सजग थी, यह उसके प्रतिवेदन के अन्तिम वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है जिसमें इस प्रकार कहा गया -

"यह हर व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है जो निहित और अविभाजित है कि उसे अपने देश में वे सारे अधिकार मिलें जो अन्य देशों में वहाँ के निवासियों को प्राप्त हो । यह भी उनका जन्म सिद्ध अधिकार है कि उन्हें सम्मान मिले और उनके राष्ट्र को भी उचित स्थान प्राप्त हो।"[3]

मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना-

तत्कालीन भारतीय वायसराय और भारत सचिव के संयुक्त नामों से जुलाई 1918 में प्रकाशित रिपोर्ट जो आगामी 1919 के संवैधानिक अधिनियम का आधार बनी । उसे मान्टफोर्ड रिपोर्ट के रूप में जाना जाता है । जुलाई 1918 में रिपोर्ट के प्रकाशित होने के डेढ़ वर्ष बाद सुधार अधि-नियम ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किया गया । अतः ब्रिटिश सरकार के संवैधानिक प्रस्तावों पर कांग्रेस को विचार करने का पर्याप्त अवसर मिला । इस स्थिति से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि यदि ब्रिटिश सरकार चाहती तो कांग्रेस के प्रस्तावों और सुझावों के अनुसार संवैधानिक अधिनियम में यथासंभव संशोधन कर सकती थी । इस दृष्टि से मान्टफोर्ड रिपोर्ट के उपरांत कांग्रेस द्वारा व्यक्त किये गये विचारों का अपना अलग महत्व है ।

आरम्भ में इस रिपोर्ट की संक्षिप्त चर्चा और इसके मूल प्रस्तावों का विवरण देना उचित होगा । इस रिपोर्ट में केन्द्र के अधिकारों और उसकी शक्तियों को यथावत् बनाये रखने का प्रयास किया गया । वायसराय और उसकी कार्यकारिणी के अधिकारों को पूर्व की तरह बनाये रखने का सिद्धान्त रिपोर्ट में अपनाया गया । इस रिपोर्ट में केन्द्रीय व्यवस्थापिका के संगठन और उसके अधिकारों में पर्याप्त परिवर्तन करके उसे नया रूप देने

की कोशिश की गयी । रिपोर्ट का मूल आधार था प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना । रिपोर्ट के अनुसार उत्तरदायी सरकार का प्रयोग केन्द्र में करने के स्थान पर प्रान्तों में करना उचित था । यदि ऐसा भी किया जाता तो भी संभवतः कांग्रेस और भारतीयों को सन्तोष मिलता किन्तु प्रान्तों में भी आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन व्यवस्था प्रभावी की गयी । इसे द्वैध शासन कहते हैं । इसके अनुसार प्रान्तीय शासन को दो भागों में विभाजित किया गया । प्रान्तीय शासन का एक भाग , गवर्नर और कौंसिल सदस्यों के अधिकार में था जो सुरक्षित विषयों का प्रशासन संचालित करते थे । दूसरे शब्दों में गवर्नर और उसके कौंसिल के सदस्यों को अत्यावश्यक विषयों को संचालित करने का कार्यभार सौंपा गया । कौंसिल के ये सदस्य सरकारी अधिकारी होते थे । ये अपने कार्यों के लिये केवल गवर्नर के प्रति उत्तरदायी होते थे । स्पष्टतः प्रान्तीय प्रशासन का यह भाग किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं था । प्रान्तीय प्रशासन का दूसरा भाग प्रान्तीय विधायिका के प्रति उत्तरदायी था अर्थात् जो मन्त्री नियुक्त होते थे और जिन वैकल्पिक विषयों का प्रशासन चलाना इन मन्त्रियों की जिम्मेदारी थी, उनके लिये वे प्रान्तीय विधायिका के प्रति उत्तरदायी थे । इसका अर्थ यह हुआ कि उत्तरदायी शासन केन्द्र में बिल्कुल लागू नहीं की गयी और प्रान्तों में भी उसे आंशिक रूप से प्रभावी किया गया और वह भी कम आवश्यक विभागों के प्रशासन को संचालित करने के लिये । इन्हीं प्रस्तावों के द्वारा मांटफोर्ड रिपोर्ट में पेचीदी द्वैध शासन व्यवस्था प्रस्तावित की गयी थी ।

मांटफोर्ड रिपोर्ट में ऐसी दो बाधाओं का भी वर्णन किया गया जो संवैधानिक प्रगति को रोक रही थी । इन दो परिस्थितियों में पहली विपरीत परिस्थिति यह बतायी गयी कि भारत के लोग निर्धन, अज्ञानी और असहाय थे और दूसरी विपरीत परिस्थिति यह कही गयी कि भारतीय समाज धर्म, जाति आदि कारणों से विभाजित था । मान्टफोर्ड रिपोर्ट का तर्क यह

था कि इन विपरीत परिस्थितियों में भारत में प्रजातन्त्र को अथवा प्रजातांत्रिक व्यवस्था को लागू करना कठिन था लेकिन इतना सब होते हुए भी 1909 के पृथक प्रतिनिधित्व शासन प्रणाली पर इसके दृष्टिकोण की चर्चा आवश्यक है। विभाजित करने वाले कारणों को स्वीकार करने के बाद भी मुसलमानों को दिया गया पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार समाप्त नहीं किया गया बल्कि इसे बढ़ाकर सिक्खों आदि अन्य साम्प्रदायिक वर्गों को देने का क्रम अपनाया गया जो भारतीय समाज को जाति और धर्म के आधार पर विभाजित करने का प्रयास ही था।

मान्टफोर्ड रिपोर्ट की इस संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् हमें कांग्रेस के दृष्टिकोण पर ध्यान देना है और मूल रूप से यह देखना है कि क्या इस रिपोर्ट से देश में अनुकूल वातावरण उत्पन्न हुआ अथवा नहीं। संवैधानिक प्रयोग की सफलता और असफलता भारतीय जनमत की प्रतिक्रिया पर निर्भर कर रही थी न कि सरकार के निर्णयों पर। कांग्रेस की प्रतिक्रिया की चर्चा करते समय यह दिखाई देता है कि इससे विवादों का क्रम गतिशील हुआ। इसका एक कारण यह था कि अभी भी भारतीय राजनीति परम्परागत सिद्धान्तों पर चल रही थी और इसके साथ-साथ कांग्रेस के नरमपंथी विचारधारा वाले नेताओं और उग्रपंथी विचार रखने वाले नेताओं के बीच के मतभेद प्रायः समाप्त हो रहे थे। उदाहरण के लिये यह कहना कठिन है कि मदन मोहन मालवीय उदारवादी थे अथवा नहीं। श्री निवास शास्त्री को किस श्रेणी में रखा जाय। भारतीय राजनीति इस समय करवट ले रही थी और कांग्रेस के नेता स्पष्ट निर्णय करने की स्थिति में नहीं थे। इसी कारण मान्टफोर्ड रिपोर्ट ने कांग्रेस के भीतर अनेक विवादों को जन्म दिया।

रिपोर्ट के प्रकाशित होने के तुरन्त बाद अलग-अलग मत प्रकाशित किये गये । एनीबेसेन्ट की प्रतिक्रिया इस प्रकार थी - " इंग्लैण्ड को यह शोभा नहीं देता कि वह भारत के लिये ऐसी योजना प्रस्तुत करता । जहाँ यह योजना व्यापक होनी चाहिये थी वहाँ यह तुच्छ है । जहाँ इसे उदार होना चाहिये था वहाँ यह अनुदार है"।[4] कांग्रेस के पन्द्रह नेताओं ने मद्रास में व्यक्त किये गये वक्तव्य में इस प्रकार कहा गया :- " यह योजना सिद्धान्त रूप से और प्रस्तावों के अनुसार इतनी गलत है कि इसे सुधारना या संशोधित करना संभव नहीं होगा"।[5] तिलक ने भी अपनी निराशा व्यक्त की और सार्वजनिक रूप से कहा कि यह योजना उन्हें स्वीकार्य नहीं थी ।

कांग्रेस के एक वर्ग ने जहां मान्टफोर्ड योजना के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त किया उसी समय कांग्रेस के नरम पंथी धड़े ने इसके स्वागत करने की घोषणा की । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने तुरन्त ही कलकत्ता में एक सम्मेलन बुलाया जिसमें इस योजना का स्वागत किया गया और यह आशा व्यक्त की गयी कि इससे वास्तविक उत्तरदायी शासन स्थापित करने के द्वार खुलेंगे । सरकार के निकट आने का नरम पंथियों का यह अच्छा अवसर था और उन्होंने संवैधानिक प्रस्तावों का स्वागत करते हुए सरकार की प्रशंसा करने का निर्णय लिया ।

कांग्रेस का विशेष सम्मेलन -

कांग्रेस के इतिहास में पहली बार अगस्त 1918 में एक विशेष सम्मेलन आयोजित किया गया जिसकी अध्यक्षता अली इमाम ने की । कांग्रेस के इतिहास में यह बहुत ही महत्वपूर्ण क्षण था क्योंकि यहीं से परम्परावादी कांग्रेसियों के दृष्टिकोण में दरारें पड़ती हुयी दिखाई दी और भावी संवैधानिक व्यवस्था के प्रति दृष्टिकोण अपनाने के विषय में अलग-अलग मत दिखाई दिये । इस

समय गांधी जी बम्बई में ही थे लेकिन उन्होंने कांग्रेस के विशेष सम्मेलन में भाग न लेने का निर्णय लिया । जो व्यक्ति कुछ ही वर्षों में कांग्रेस की बागडोर संभालने वाला था उसने अधिवेशन से दूर रहना क्यों निश्चित किया ? इसका उत्तर स्वयं गांधी जी के पत्र से मिलता है । लोकमान्य तिलक को लिखे पत्र में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने इस प्रकार लिखा :-

"मैं आगामी कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने में असमर्थ हूँ । मैं आगामी नरम दलीय सम्मेलन में भी भाग नहीं लूँगा । मैं जानता हूँ कि मेरे विचार इन दोनों से भिन्न हैं । यह मैं आपको बता चुका हूँ कि आप और श्रीमती बेसेन्ट मेरे विचारों से सहमत नहीं हैं । मैं यह भी जानता हूँ कि इस कार्य में नरम पंथी भी साथ नहीं देंगे । यह एक बात है दूसरी बात यह है कि हमें मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना चाहिये कि हम क्या परिवर्तन चाहते हैं ? इन परिवर्तनों को मनवाने के लिये हमें मृत्यु तक संघर्ष करना चाहिये । यह स्पष्ट है कि नरम पंथी इस विचार को नहीं मानेंगे और यदि श्रीमती बेसेन्ट तथा आप इस विचार को स्वीकार भी कर लेते हैं तो भी आप उस प्रकार से संघर्ष नहीं करेंगे जिस प्रकार से मैं चाहता हूँ।"[6]

गांधी जी के इस पत्र से यह प्रमाणित हो जाता है कि मान्टफोर्ड योजना के विषय में और संवैधानिक सुधार की ब्रिटिश नीति के विषय में तथा सरकार पर दबाव डालने के विषय में कांग्रेस में आन्तरिक मतभेद थे । गांधी जी ऐसी स्थिति में विशेष अधिवेशन से दूर ही रहे । फिर भी यह उल्लेख करना आवश्यक है कि 1918 के विशेष अधिवेशन में कांग्रेस में पुनः विभाजन हो गया चाहे इस विभाजन के प्रति अधिक ध्यान दिया गया हो अथवा नहीं । मान्टफोर्ड रिपोर्ट के आलोचकों ने बम्बई के विशेष अधिवेशन

में भाग लिया और मान्टफोर्ड रिपोर्ट के समर्थकों ने अपना अलग सम्मेलन कुछ महीने बाद किया। नरमपंथियों ने एक अलग सम्मेलन करना उचित समझा तथा वे हमेशा के लिये कांग्रेस से दूर हो गये। दिनशावाचा, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, तेज बहादुर सप्रू, सी॰वाई॰ चिन्तामणि आदि कांग्रेस के नेताओं ने बम्बई के विशेष अधिवेशन में भाग नहीं लिया और इसी नगर में 1918 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में एक अलग सम्मेलन किया। 1918 के कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में मान्टफोर्ड योजना के विषय में कांग्रेस ने व्यापक प्रस्ताव पारित करके संवैधानिक प्रस्तावों के बारे में अपनी ओर से अनेक सुझाव प्रस्तुत किये। कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार थे :-

1. अधिकारों की घोषणा की मांग -

कांग्रेस ने मांग की कि भविष्य में जो संवैधानिक अधिनियम बनाया जाय वह भारतीयों के अधिकारों की घोषणा करे। इन अधिकारों में कानून के सम्मुख समानता, देश में घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता, विचारों को प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति का अधिकार, शस्त्र रखने का अधिकार तथा प्रेस की स्वतन्त्रता आदि की मांग की गयी।

2. भारतीय विधायिका-

केन्द्रीय विधायिका को भारतीय विधायिका कहते हुये कांग्रेस ने यह मांग की कि इसे धन सम्बन्धी वही अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो जो स्वशासित उपनिवेशों की विधायिकाओं को प्राप्त थे।

3. केन्द्र में द्वैध शासन -

कांग्रेस ने मांग की कि उत्तरदायी शासन का आरम्भ केवल प्रान्तों तक सीमित करने के स्थान पर इसे केन्द्र में भी तुरन्त लागू किया जाय तथा जिस प्रकार का शासन प्रान्तों में लागू किया जा रहा था वैसा ही शासन केन्द्र में भी प्रभावी हो ।

4. चुनाव-

वास्तविक चुनाव प्रणाली को अपनाने के बारे में अनेक सुझाव दिये गये ।

5. ब्रिटिश संसद का नियन्त्रण-

ब्रिटिश संसद और इण्डियन आफिस के नियन्त्रण को घटाने की मांग की गयी । गृह सरकार जिस प्रकार से भारतीय प्रशासन के मामलों में हस्तक्षेप करती थी उसे बहुत कम करने या समाप्त करने की ओर कदम उठाने को कहा गया ।

6. महिलाओं को मताधिकार-

कांग्रेस ने अपने इस अधिवेशन में यह भी मांग की कि समान योग्यता वाली महिलाओं को मताधिकार देने के मामले में केवल महिला होने के नाते कोई मतभेद न किया जाय । यह पर्याप्त प्रगतिशील प्रस्ताव था । अन्त में इस सम्मेलन में मान्टफोर्ड प्रस्तावों के बारे में यह मत व्यक्त किया गया :-

"कांग्रेस का यह मत है कि यह प्रस्ताव निराशाजनक और अपर्याप्त है और कांग्रेस यह सुझाव देती है कि उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये पर्याप्त कदम उठाने की अविलम्ब आवश्यकता है जिससे कि इन प्रस्तावों को संशोधित किया जा सके।"[7]

कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन 1918 में जब दिल्ली में आयोजित हुआ तो स्वाभाविक रूप से यहाँ भी संवैधानिक सुधारों की चर्चा छायी रही । इस अधिवेशन की अध्यक्षता मदन मोहन मालवीय ने की थी जिन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कांग्रेस के उद्देश्यों पर ध्यान केन्द्रित किया । उनका कहना था कि कांग्रेस जब आत्म-निर्णय का अधिकार मांग रही थी तो इसका अर्थ साम्राज्य से अलग होना नहीं था । इसका अर्थ यह भी नही था कि कांग्रेस " अन्य उपनिवेशों के प्रशासनों के अनुसार अपने आन्तरिक कार्यों में पूर्ण उत्तरदायी शासन चाहती थी"। कांग्रेस के लक्ष्य को परिभाषित करते हुये मालवीय जी ने कहा कि वह उसी सीमा तक स्वशासन की मांग कर रही थी जिसका वर्णन 1916 के कांग्रेस लीग समझौते या योजना में किया गया था । कांग्रेस अध्यक्ष ने यह प्रश्न भी उठाया कि क्या सम्पूर्ण योजना को रद्द कर दिया जाय और एक नई संवैधानिक योजना तैयार की जाय । उन्होंने पहले के विशेष अधिवेशन का उदाहरण देते हुये कहा कि " कुछ सुधारों और संशोधनों के साथ कांग्रेस मान्टफोर्ड योजना को स्वीकार करने को तैयार थी "।[8]

स्पष्टतः कांग्रेस अध्यक्ष के रुख में नरमी थी । वे कांग्रेस के समझौतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट कर रहे थे । कांग्रेस अधिवेशन की चर्चा से यही ध्वनि निकलती है कि आरम्भिक निराशावादी टिप्पणियों के उपरान्त कांग्रेस संवैधानिक सुधारों के प्रति उत्सुक थी । इस अधिवेशन में थोड़ा आगे

बढ़कर यह भी कहा गया कि प्रान्तों में पूरी तरह से उत्तरदायी शासन लागू किया जाय ।[9]

1919 का आरम्भ होते ही राजनीतिक स्थिति तेजी से बदली जिसने कांग्रेस के पहले के नरम दृष्टिकोण को प्रभावित किया और अन्ततः संवैधानिक योजना के कार्यान्वयन की दिशा भी बदलती हुई दिखाई दी ।

जनवरी 1919 में राजनीतिक परिवर्तन का आरम्भिक लक्षण तब परिलक्षित हुआ जब रौलेट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की । इस रिपोर्ट में सरकार को कुछ विशेषाधिकार देने के सुझाव दिये गये जिसके अनुसार विशेष परिस्थितियों में दमनकारी कानून बनाये जा सकते थे और केन्द्र सरकार ने ऐसा किया भी । केन्द्रीय विधायिका में रौलेट बिल प्रस्तुत किये गये और मार्च 1919 में रौलेट कानून पारित भी कर दिया गया । इस कानून के पारित होने के समय चुने हुये प्रतिनिधियों ने केन्द्रीय विधायिका में संगठित प्रतिरोध किया किन्तु सरकार ने उनकी एक भी न सुनी । अपने बहुमत के बल पर रौलेट कानून को पारित करा लिया ।

रौलेट नियम के विरोध में गांधी जी ने नेतृत्व संभाला और भारतीय राजनीति की दिशा बदलने का क्रम आरम्भ हो गया सत्याग्रह के समय जलियांवाला बाग की घटना हुयी और खिलाफत आंदोलन भी चला। सम्पूर्ण देश में प्रतिरोध की एक दशा दिखाई दी । मांटफोर्ड प्रतिवेदन के आधार पर 1919 का अधिनियम ब्रिटिश सरकार ने पारित किया ।

1919 का भारत सरकार अधिनियम –

इसकी मुख्य व्यवस्थायें इस प्रकार थी :-

1858 के अधिनियम के अनुसार भारत सचिव को भारतीय प्रशासन पर नियंत्रण बनाये रखने के जो अधिकार दिये गये थे उन्हें 1919 के अधिनियम

ने यथावत् बनाये रखा । इस प्रकार भारत सचिव के अधिकारों में कोई कमी नही की गयी । किंतु फिर भी अधिनियम से ब्रिटिश संसद् का प्रभाव उसके ऊपर बढ़ गया । यह इस कारण संभव हो सका क्योंकि अब भारत सचिव और उसके विभाग पर होने वाले खर्च की स्वीकृति ब्रिटिश संसद् देने लगी । इसका प्रभाव यह पड़ा कि ब्रिटिश संसद् के सदस्य उसके तथा उसके विभाग का वेतन स्वीकार करते समय भारत सचिव के कार्यों की आलोचना भी कर सकते थे । भारत सचिव की कौंसिल के संगठन के विषय में भी परिवर्तन किये गये । इसके सदस्यों की अधिकतम संख्या 14 से घटाकर 12 कर दी गयी और इनका कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया ।

1919 के अधिनियम के अनुसार ब्रिटेन में भारत की ओर से एक अन्य अधिकारी नियुक्त किया जाने लगा जो हाई कमिश्नर कहलाया । भारत सचिव की सलाह से वाइसराय इस पद पर किसी व्यक्ति को चुन सकता था । भारतीय व्यापार की ब्रिटेन में देखभाल करना, ब्रिटेन में शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों के हितों का ध्यान रखना और भारतीय शासन के लिए आवश्यक सामग्री खरीदना इसके मुख्य कार्य थे ।

केंद्रीय कार्यकारिणी के स्वरूप में कोई भी आधारभूत परिवर्तन नहीं किया गया । इससे यह स्पष्ट है कि केंद्रीय प्रशासन में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का कोई भी लक्ष्य अधिनियम का निर्माण करने वालों का नहीं था ।

केंद्रीय प्रशासन का आधारस्तंभ गवर्नर जनरल था । उसे कार्यकारी, प्रशासनिक, विधि-निर्माण तथा वित्त संबंधी विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये थे जिससे कि वह किसी भी स्थिति में एक स्वेच्छाचारी प्रशासक की तरह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सके । वह केवल गृह सरकार के प्रति उत्तरदायी

था । केंद्रीय विधान परिषद् का उस पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं था । 1858 से भारत में जिस प्रकार की प्रशासनिक निरंकुशता आरंभ की गयी उसे 1919 के अधिनियम में भी उसी प्रकार बनाये रखा गया ।

केंद्रीय कार्यकारिणी परिषद् के संगठन में कुछ परिवर्तन किये गये । अभी तक इस परिषद् की संख्या 6 निर्धारित की गयी थी । इन अधिनियम के द्वारा अधिकतम सीमा का बंधन हटा दिया गया । आवश्यकता के अनुसार कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या बढ़ायी जा सकती थी । इस व्यवस्था के अनुसार केंद्रीय कार्यकारिपी में भारतीयों की संख्या । से बढ़ाकर 3 कर दी गयी । प्रशासन में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने की दिशा में यह परिवर्तन किया गया था ।

1919 के अधिनियम की सबसे प्रमुख विशेषता थी प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों के अधिकार क्षेत्रों को निश्चित करना । इस प्रकार भारत में संघात्मक व्यवस्था के आरंभ की ओर पहला महत्वपूर्ण कार्य किया गया ।

केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के बीच पहली बार प्रशासन के समस्त विषयों की "केंद्रीय" और "प्रांतीय" दो वर्गों में बाँटा गया । विषयों के विभाजन का आधार यह था कि जो विषय समूचे देश के लिये महत्व के थे और जिनकी व्यवस्था की आवश्यकता सभी प्रांतों को समान रूप से थी उन्हें केंद्रीय विषय माना गया । रेलवे, डाक-तार, यातायात, सुरक्षा, वैदेशिक नीति आदि विषय केंद्रीय थे । प्रांतीय सूची में स्थानीय महत्व के विषय रखे गये जैसे शिक्षा, स्वशासन, स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई आदि । विषयों के विभाजन के अतिरिक्त शेष विषयों को केंद्र के अधिकार में सौंप दिया गया । प्रांतीय सरकारों को स्वायत्तता देने के लिए उनके आय के साधनों को भी स्पष्ट कर दिया गया ताकि ये सरकारें विभिन्न विभागों के विकास के लिए हमेशा सरकार का ही मुँह न ताकती रहें ।

इस अधिनियम ने केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान मंडलों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये । पहली बार केंद्रों में द्विसदनात्मक विधान मंडल की स्थापना की गयी । ये दो सदन राज्य परिषद और विधान सभा कहलाये ।

1919 के अधिनियम ने केंद्रीय विधान मंडल में गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत कर दिया और सदस्यों की संख्या में पर्याप्त बृद्धि भी कर दी । 1909 के अधिनियम में कुल सदस्य 60 थे जबकि 1919 के अधिनियम में यह संख्या केंद्र के दोनों सदनों को मिलाकर इसकी तीन गुनी कर दी गयी । केंद्र के उच्च सदन- राज्य परिषद् - में अधिक से अधिक 60 सदस्य हो सकते थे । इनमें से 27 सदस्य मनोनीत और 33 निर्वाचित किये जाने लगे । केंद्रीय विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या 140 निर्धारित कर दी गयी । इस सभा के 104 सदस्य निर्वाचित किये जाते थे और 41 सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे । इस सदन के संगठन से यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि किस प्रकार की निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी थी । 1909 के अधिनियम की तरह इन अधिनियम में भी सीटें विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों और हितों में बाँटी गयी । इनमें से 52 सीटें सामान्य रखी गयी । 30 सीटें मुसलमानों के लिए, 2 सिखों के लिए, 9 यूरोपियनों के लिए, 7 जमींदारों के लिए और 4 सीटों के लिए भारतीय वाणिज्य के प्रतिनिधियों के चुनाव की व्यवस्था की गयी । जो सदस्य नामजद किये जाते थे उनमें से 26 राजकीय अधिकारी और 15 गैर- सरकारी अधिकारी थे ।

अभी तक केंद्रीय विधान परिषद् के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव होता था । इसके स्थान पर 1919 के अधिनियम ने प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की । चुनाव के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और कुछ हितों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व का सिद्धांत अपनाया गया । संपत्ति के आधार ही चुनाव में भाग लेने अथवा सदस्य बनाने का अधिकार दिया गया । कितने कम लोग चुनाव

में भाग ले सकते थे यह इसी से सिद्ध होता है कि 1920 में केंद्रीय विधान सभा के लिए वोट देने का अधिकार करीब 9 लाख व्यक्तियों को दिया गया था ।

इस अधिनियम ने केंद्रीय विधान मंडल के अधिकारों को भी बढ़ाया पहला अधिकार था प्रश्न पूछना, जिसका समुचित प्रयोग करके सदस्य सरकार की नीतियों की आलोचना कर सकते थे । विधान मंडल के सदस्यों को कानून बनाने के विस्तृत अधिकार दिये गये । वह केंद्रीय सूची में दिये गये सभी विषयों पर कानून बना सकती थी । इसे वित्तीय शक्तियाँ भी दी गयी थी। जब हम केंद्रीय विधान मंडल की शक्तियों पर विचार कर रहे हैं तब यह भी कहना जरूरी है कि व्यावहारिक रूप में विधान मंडल के सदस्यों के अधिकारों पर आवश्यकता से अधिक प्रतिबंध लगे हुए थे । सरकार को जनता के प्रतिनिधियों पर भरोसा नहीं था । वह ऐसी किसी भी स्थिति के लिये तैयार रहना चाहती थी जब प्रतिनिधि-संस्था के रोड़ा अटकाने पर भी राजकीय कार्यवाही को चलाना संभव हो सके । उदाहरण के लिए केंद्रीय विधान मंडल के वित्तीय अधिकारों की चर्चा करना उपयुक्त होगा । केंद्रीय बजट को दो भागों में बाँटा जाता था । इसमें से एक भाग ऐसा था जिस पर सरकार को विधान मंडल के मत की आवश्यकता नहीं रहती थी । दूसरा भाग वह था जिस पर विधान मंडल के सदस्य अपना मत प्रकट करते थे । लगभग 85 प्रतिशत बजट का भाग ऐसा था जिस पर केंद्रीय विधान मंडल का नियंत्रण नहीं था । इसी से जाना जा सकता है कि कानून निर्माण करने वाली यह केंद्रीय संस्था किस हद तक कमजोर थी ।

प्रांतों में कानून बनाने के लिए केवल एक सदन रखा गया । केंद्र के समान प्रांतों के लिए दो सदनों की आवश्यकता नहीं जान पड़ी । इन परिषदों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गयी । प्रत्येक प्रांतों के सदस्यों की संख्या उसके

आकार के अनुसार एक दूसरे से भिन्न थी । सबसे छोटी परिषद् असम प्रांत की थी जिसमें 53 सदस्य थे जबकि बंगाल की परिषद् में 140 सदस्य थे । निर्वाचित सदस्यों का बहुमत सभी परिषदों में रखा गया । वर्तमान उत्तर प्रदेश की परिषद् से उस समय की परिषद् के वास्तविक स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है । इस परिषद् के कुल 125 सदस्य अलग-अलग श्रेणियों में इस प्रकार विभाजित थे : कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य तथा मनोनीत अधिकारी -17 मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य 6, चुने गये गैर-मुसलमान सदस्य -60, चुने गये मुसलमान सदस्य -29, चुने गये यूरोपीय सदस्य -1, चुने गये जमींदार -6, विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि-1, व्यापार और उद्योग -3। मतदान का अधिकार कुछ ही लोगों को मिला हुआ था । लगभग 2.5 प्रतिशत लोग ही चुनावों में भाग ले सकते थे । मतदाता वही हो सकता था जो संपत्ति का स्वामी हो अथवा सरकार द्वारा निर्धारित कर देता हो । इन्हीं लोगों के प्रतिनिधि सदस्य बन सकते थे ।

प्रांतीय विधान परिषद् के सदस्यों के अधिकार बढ़े । कानून बनाने की प्रक्रिया में ये सदस्य सक्रिय भाग ले सकते थे । प्रांतीय विषय अब स्पष्ट निर्धारित कर दिये गये थे जिनसे संबंधित कानून बाने का अधिकार प्रांतीय परिषदों को दिया गया । पहली बार इन परिषदों को अपना सभापति चुनने का अधिकार दिया गया । गवर्नर इन सदनों का अध्यक्ष नही रहा । इससे इन सदनों पर सरकार का प्रभाव घटा । द्वैध शासन - व्यवस्था आरंभ होने के कारण विधान परिषद् के सदस्यों को प्रांतीय शासन पर निगरानी रखने का अवसर मिला । जो विषय हस्तांतरित विषय कहलायें उनके संबंध में प्रांतीय परिषद प्रभावशाली थी ।

1919 के अधिनियम का सबसे मुख्य निर्णय था प्रांतों में द्वैध शासन की स्थापना । इसका महत्व इस कारण है क्योंकि उत्तरदायी शासन की स्थापना का आरंभिक प्रयोग इसी द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार किया गया । 1917 की घोषणा के समय से ब्रिटिश सरकार ने बचन दिया था कि भारत में क्रमश: उत्तरदायी शासन की स्थापना की जायगी । यह स्वाभाविक ही था कि अधिनियम में इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक व्यवस्थाएं की जाती । इस विषय में यह निश्चय किया गया कि केंद्रीय शासन को यथावत् बनाये रखा जाये । केंद्र की बजाय प्रांतों में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था करने का सैद्धांतिक निर्णय किया गया । लेकिन अधिनियम का निर्माण करने वाले प्रांतों में भी पूरी तरह से उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए तैयार नहीं हुए । उनका कहना था कि इस नये संवैधानिक प्रयोग का पर्याप्त अनुभव भारतीयों को नहीं था और प्रशासन में कठिनाइयाँ आ सकती थी । यह तर्क देते हुए प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का निर्णय किया गया । स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार प्रांतीय शासन के एक भाग पर नौकरशाही का अधिकार बनाये रखना चाहती थी और दूसरे भाग को वह जनता के प्रतिनिधियों को सौंपने को तैयार हुई । ऐसी स्थिति में दो अलग-अलग उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक निराला प्रयोग किया गया जो द्वैध शासन अथवा दोहरा शासन कहलाता है ।

अब हमें यह देखना है कि प्रांतों में द्वैध शासन की प्रक्रिया किस प्रकार की गयी थी । इस संबंध में प्रांतीय विषयों को दो भागों में बाँट दिया गया । ये दो भाग आरक्षित विषय तथा हस्तांतरित विषय कहलाये । आरक्षित विषय ऐसे थे जो प्रांतीय प्रशासन के लिए महत्वपूर्ण थे, जैसे पुलिस, जेल, न्याय, वित्त और राजस्व आदि । हस्तांतरित विषय इतने महत्वपूर्ण नही थे । शिक्षा, स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन, कृषि आदि विषयों को हस्तांतरित कहा गया था।

प्रांतीय कार्यकारिणी को दो भागों में विभक्त किया गया । एक भाग में थे गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य और दूसरे भाग में थे गवर्नर और विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्री । गवर्नर और उसकी कार्य-कारिणी परिषद् के सदस्यों के हाथों में आरक्षित विषय रहे तथा हस्तांतरित विषय मंत्रियों के हाथों में सौंप दिये गये । नौकरशाही ने आरक्षित विषयों पर अपना अधिकार बनाये रखा तथा बचे हुए हस्तांतरित विषयों को मंत्रियों के अधिकार में कर दिया गया । पहले भाग का प्रशासन करने वाले गवर्नर जनरल अथवा भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी थे । केवल दूसरे भाग के मंत्री प्रांतीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रांतीय प्रशासन के एक भाग की देखरेख करने वाले मंत्री हस्तांतरित विषय की व्यवस्था का संचालन करने के लिए जनता के प्रतिनिधियों के प्रति जिम्मेदार थे ।

1919 के अधिनियम की नवीनता इसी में थी कि जिन नौ प्रांतों में इसे लागू किया गया उनमें मंत्रियों को नियुक्त किया गया । गवर्नर को यह जिम्मेदारी दी गयी कि वह प्रांतीय विधान सभा के सदस्यों में से ही इन मंत्रियों को चुने । ये मंत्री अपने विभागों के कार्यों के लिए प्रांतीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे और इस सभा का विश्वास न रहने पर उन्हें अपने पद से हटना पड़ता था । इस प्रकार मंत्रियों की नियुक्ति करके तथा हस्तांतरित विषय उन्हें सौंपकर प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया गया था ।

हालाँकि नियमतः प्रांतीय सरकार के दोनों भाग एक दूसरे से अलग थे और अपने-अपने दायरे में काम करते थे, पर किसी भी प्रशासन का संचालन ऐसी बनावटी विभाजित रेखा को खींचकर नहीं चलाया जा सकता था । 1919 का अधिनियम बनाते समय भी इस कठिनाई का अनुमान लगा लिया

गया था । इसी से अधिनियम में कई ऐसी धाराएं रखी गयी थीं जिनके अनुसार दोनों भागों के बीच पर्याप्त संपर्क बना रहे । यह इसलिए भी जरूरी था कि विषयों का विभाजन ऐसा नहीं हो सकता था कि एक विषय के लिए जिम्मेदार पक्ष को दूसरे की सहायता की जरूरत ही न पड़े । उदाहरण के लिए कृषि से संबंधित विषयों का संबंध प्रशासन के दोनों भागों से था और इनके निकट संपर्क से ही कृषि क्षेत्र में विकास हो सकता था । इस प्रकार के सहयोग के लिए गवर्नर को मुख्य भूमिका निभानी थी क्योंकि वह दोनों भागों पर समान ढंग से देखभाल करता था । केंद्र में जिस प्रकार गवर्नर जनरल को तरह-तरह के अधिकार तथा विशेषाधिकार देकर उसे स्वेच्छाचारी ढंग से कार्य करने की स्वतंत्रता दी गयी थी । उसी प्रकार प्रांतीय शासन पर गवर्नर का पूरा नियंत्रण बना रहा । वह द्वैध शासन का आरंभ होने के बाद भी निरंकुश बना रहा । विधान सभा उस पर नियंत्रण नहीं कर सकती थी ।

कांग्रेस द्वारा भावी नीति पर निर्णय-

इस नये राजनीतिक वातावरण में कांग्रेस का अधिवेशन 1919 में अमृतसर में हुआ । इसके आरम्भ होने के कुछ दिनों पूर्व ही ब्रिटिश संसद ने 1919 का अधिनियम पारित कर दिया था । इसका अर्थ यह हुआ कि अब संवैधानिक , सुधारों की एक निश्चित रूपरेखा सामने आ गयी थी। मांटफोर्ड सुधारों के आधार पर लगभग 18 माह बाद एक संवैधानिक अधिनियम जब पारित हो गया तो अनिश्चय की स्थिति समाप्त हो गयी जैसा कि इसके पहले होता था, ब्रिटिश सरकार ने न तो कांग्रेस की आपत्तियों पर ध्यान दिया और न ही उसे कांग्रेस की ओर से किसी प्रकार की आशंका थी परन्तु ब्रिटिश सरकार के अनुमान सर्वथा उचित नहीं थे । आने वाले

वर्षों में यह दिखाई दिया कि 1919 के सुधार अधिनियम की सफलता के लिये उचित राजनीतिक वातावरण और कांग्रेस का सहयोग आवश्यक था । यदि यह सहयोग नहीं मिला तो फिर सम्पूर्ण संवैधानिक सुधार योजना के प्रति उत्साह भी नहीं दिखाई दिया ।

अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन में 1919 के संवैधानिक अधिनियम के विरोधियों का स्वर तीव्र था । चारों ओर यही मांग की जा रही थी कि कांग्रेस इसे अस्वीकार कर दे । इस कांग्रेस की अध्यक्षता मोतीलाल नेहरू ने की और उन्होंने अध्यक्षीय भाषण में इसकी चर्चा भी की । अधिनियम की विभिन्न व्यवस्थाओं की चर्चा करते हुये उन्होंने कहा कि गवर्नर जनरल और गवर्नर को असीमित अधिकार दिये गये थे । इसी प्रकार से उन्होंने अधिनियम की अन्य व्यवस्थाओं की आलोचना की परन्तु फिर भी उन्होंने अधिनियम के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने की राय दी । उनका कहना था कि "मैं सोचता हूँ कि इन परिस्थितियों में हमारा स्पष्ट कर्तव्य यह है कि जो कुछ हमें प्राप्त हुआ है उसका उपयोग करते हुये हम जो कुछ पाना चाहते हैं उस पर बल देते रहें ।"[10]

अमृतसर कांग्रेस के अधिवेशन के दौरान कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं में नीति सम्बन्धी स्पष्ट मतभेद दिखाई दिये । कांग्रेस में दो प्रकार की राय थी । एक पक्ष इस संवैधानिक अधिनियम का आलोचक था और अपनी आपत्तियों को स्पष्ट रूप से प्रकट करने के पक्ष में था दूसरा पक्ष यह विचार प्रस्तुत कर रहा था कि 1919 के अधिनियम को पहले से अस्वीकार न किया जाय तथा इसे कार्यरूप देने में सहयोग दिया जाय । दूसरे पक्ष को आशा थी कि यथासमय ब्रिटिश सरकार अपने रुख में परिवर्तन कर सकती थी ।

संवैधानिक अधिनियम से असन्तुष्ट लोगों का प्रतिनिधित्व करते हुये चितरंजन दास ने अधिवेशन में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया । इस प्रस्ताव में यह कहा गया कि " कांग्रेस 1919 के अधिनियम को निराशाजनक , असन्तोषजनक और अपूर्ण मानती है और ब्रिटिश संसद से अपेक्षा करती है कि इसमें अविलम्ब सुधार करे।" कांग्रेस ने पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मांग की । लोकमान्य तिलक और अन्य कांग्रेसजनों ने सी.आर. दास के प्रस्ताव का समर्थन किया और यह प्रस्ताव विषय समिति में स्वीकार भी हो गया । इसका अर्थ यह हुआ कि कांग्रेस शर्तों के साथ 1919 के संवैधानिक सुधार को स्वीकार कर रही थी ।

विषय समिति से जब यह प्रस्ताव खुले अधिवेशन में आया तो गांधी जी ने इसका विरोध किया । अपनी आत्म कथा में गांधी जी का यह कहना है कि उन्होंने कांग्रेस में " वास्तविक प्रवेश अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन से ही किया ।"[11] इस तथ्य की पुष्टि के लिये गांधी जी के हस्तक्षेप पर ध्यान देने की आवश्यकता है और यह भी स्मरण रखना होगा कि एक वर्ष के कम समय में ही कुछ ऐसी राजनीतिक स्थिति बदली कि 1919 की सुधार योजना के अब तक के समर्थक इसके विरोधी हो गये तथा इस समय के विरोधी बाद में अधिनियम के समर्थक बन गये ।

अतः गांधी जी के विवरण को स्पष्ट रूप से देने की आवश्यकता है । गांधी जी का कहना था कि इस अधिनियम द्वारा "भारत के प्रति न्याय करने के अंग्रेज लोगों के अच्छे उद्देश्य दिखाई दे रहे थे ।"[12] इसीलिये उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि कांग्रेस अधिनियम में सहयोग करने का बचन दे और भारत सचिव को उनके कार्यों के विषय में धन्यवाद दे । गांधी जी के प्रस्ताव के कारण प्रमुख नेताओं को पुनर्विचार करना पड़ा और अन्ततः एक

ऐसा प्रस्ताव इस अधिवेशन में पारित किया गया जिसे मध्य मार्गीय प्रस्ताव कहा जा सकता है । जो प्रस्ताव पारित किया गया उसमें गांधी जी के सुझावों को स्वीकार करते हुये पहले की आलोचनाओं को नरम बना दिया गया । प्रस्ताव के महत्व को देखते हुये इसे पूर्ण रूप से प्रस्तुत करना उपयोगी होगा । स्वीकृत प्रस्ताव इस प्रकार से था :

"यह कांग्रेस अपने गतवर्ष की घोषणा पर जोर देते हुये यह विचार पुनः प्रकट करती है कि भारत पूर्ण रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिये योग्य है और इसके विरोध में प्रकट की गयी किसी भी प्रकार की धारणाओं और विचारों को अस्वीकार करती है ।

यह कांग्रेस पहले की दिल्ली कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव पर पुनः आस्था व्यक्त करते हुये कहती है कि संवैधानिक सुधार योजना अपर्याप्त, असन्तोष जनक और निराशाजनक है ।

यह कांग्रेस ब्रिटिश संसद से प्रतिवेदन करती है कि भारत में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की ओर शीघ्र कदम उठाये जाय जो आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर आधारित हो ।

इस कांग्रेस का यह विश्वास है कि यथासंभव सुधारों को इस प्रकार से प्रभावी बनाया जायेगा जिससे पूर्ण उत्तरदायी सरकार स्थापित हो और इस दृष्टि से कांग्रेस एडविन मान्टेग्यू के कार्यों के प्रति धन्यवाद प्रकट करती है।"[13]

अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन से यह आशा जगी थी कि कांग्रेस 1919 के अधिनियम को कार्यरूप देने में अपना सहयोग देगी लेकिन आगामी वर्षों में घटना चक्र पुनः तेजी से बदला जिसके संदर्भ में अधिनियम के प्रति कांग्रेस का उत्साह ठंडा पड़ता गया ।

कांग्रेस द्वारा इस अधिनियम के बहिष्कार का निर्णय-

यह स्वीकार किया गया है कि 1919 के अधिनियम की सफलता के लिये दो आवश्यक शर्तें थी । पहली शर्त थी इस अधिनियम के प्रति अधिक से अधिक राजनीतिक दलों, वर्गों और संस्थाओं का सहयोग । दूसरी शर्त थी इस अधिनियम को पर्याप्त समय तक कार्यरूप दिया जाना।[14] संवैधानिक सुधार योजना की सफलता या असफलता इस बात पर अधिक निर्भर नहीं करती थी कि इसके प्रावधान क्या थे ? इससे भी अधिक महत्व का प्रश्न यह था कि नये अधिनियम की व्यवस्थाओं को किस प्रकार प्रभावी बनाया जाय तथा इसके प्रभावी बनाने के लिये सभी पक्षों ने प्रयास किये । ध्यान देने की बात यह है कि इन दो प्रमुख शर्तों में से कोई भी शर्त पूरी नहीं हो सकी । परिणामत: 1919 का अधिनियम सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सका । कम से कम कांग्रेस इस अधिनियम से कभी भी उत्साहित नहीं हो सकी और शीघ्र ही सम्पूर्ण संवैधानिक प्रक्रिया के प्रति कांग्रेस के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया ।[15]

35 वर्षों तक कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार से अपील की थी कि वह उचित संवैधानिक सुधार करे । कांग्रेस की सम्पूर्ण राजनीति इस संवैधानिक प्रक्रिया पर आधारित थी । कांग्रेस का प्रजातंत्र का लक्ष्य, प्रशासन में सहयोग की मांग, केन्द्रीय और प्रान्तीय सभाओं में अधिक से अधिक भारतीयों की उपस्थिति, ब्रिटिश संसद के समान विधान सभाओं का गठन और इनके चुनाव तथा अधिकार और उत्तरदायी सरकार आदि ऐसी धारणायें थी जिनकी आशा कोलम्बी अबाध तक कांग्रेस ने संजोकर रखा था और धैर्य पूर्वक प्रतिवर्ष होने वाले अधिवेशनों में वह सरकार से वास्तविक संवैधानिक सुधारों की प्रार्थना करती रही । पूर्ववर्ती 1919 का अमृतसर

अधिवेशन कांग्रेस की परम्परावादी नीति का अन्तिम अध्याय था । हमें यह विचारना है कि अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन के शीघ्र बाद 1919 के अधिनियम के प्रति कांग्रेस की नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन कैसे आया और यह परिवर्तन लाने वाला कौन था ? इसका उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है कि परिवर्तन को लाने वाला व्यक्ति महात्मा गांधी था जिसने 1920 में राष्ट्रीय आंदोलन को नयी दिशा देने के उद्देश्य से असहयोग आन्दोलन आरम्भ करने की घोषणा की तथा इसी के साथ ब्रिटिश सरकार को " शैतान की सरकार " कहकर उसकी कटु आलोचना करने का क्रम आरम्भ कर दिया और यह भी कहा कि कांग्रेस को न तो सरकार पर और न सरकारी अधिकारियों पर और न सरकार के क्रिया-कलापों पर विश्वास है ।[16] इसी परिप्रेक्ष्य में हम गांधी जी के 1919 के कांग्रेस के अधिवेशन में आये हुये परिवर्तन को समझ सकते है । इस अधिवेशन में गांधी जी 1919 के अधिनियम के पक्षधर थे । उन्होंने खुले अधिवेशन में इस अधिनियम की हिमायत की और इसके प्रति समर्थन व्यक्त किया परन्तु 1920 में आयोजित कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में गांधी जी का रुख पूर्ण रूप से बदल गया । इस अधिवेशन में सम्पूर्ण तस्वीर बदली हुयी दिखाई दी जो कांग्रेस के शीर्षस्थ नेता पहले के अधिवेशन में 1919 के अधिनियम को निरस्त करने हेतु तर्क देते रहे थे, उन्होंने इस अधिनियम के प्रति समर्थन व्यक्त किया और गांधी जी ने इस अधिनियम को अस्वीकार करने अथवा इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने की कांग्रेस की नीति बतायी ।[17]

1920 से कांग्रेस की संवैधानिक परिवर्तन के प्रति कांग्रेस की नीतियों में बड़ा परिवर्तन आ गया । अब कांग्रेस ब्रिटिश सरकार की ओर मुँह ताकने को तैयार नहीं थी । संवैधानिक प्रक्रिया के प्रति उसका विश्वास भी हिल गया । इसी प्रक्रिया का आरम्भ कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन से हुआ।

इसी अधिवेशन में अधिनियम की इस व्यवस्था के प्रति सबसे अधिक चर्चा हुयी थी कि विधानसभाओं के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण क्या हो ? इस विषय में अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया -

"संवैधानिक सुधार वाली विधान सभाओं के चुनावों में न खड़ा होना और किसी भी प्रत्याशी के पक्ष में मतदान न करना जो कांग्रेस के परामर्श के बाद भी चुनाव के लिये खड़ा हुआ हो।"[18]

इस अवसर पर विधानसभाओं के विषय में गांधी जी ने विषय समिति के सम्मुख कहा कि " ये एक प्रकार के जाल हैं, फन्दे हैं तथा मृत्यु के फन्दे हैं जिनमें किसी को नहीं घुसना चाहिये ।"[19] अपने विचारों को स्पष्ट करते हुये गाँधी जी ने विधानसभाओं के बहिष्कार के प्रस्ताव पर कलकत्ता अधिवेशन में ये शब्द कहे " यह मेरा निश्चित मत है कि जो सार्वजनिक व्यक्ति जनसेवा करना चाहते हों वे ऐसी सेवा विधानसभाओं के बाहर रहकर ज्यादा अच्छी तरह से कर सकते हैं बजाय इसके कि वे विधान सभाओं के अन्दर जायें।" [20] कलकत्ता अधिवेशन के कांग्रेस के प्रस्ताव से 1919 के अधिनियम के प्रति कांग्रेस की नीति में परिवर्तन का क्रम आरम्भ हो गया । नवम्बर 1920 से सम्पूर्ण भारत में नये अधिनियम के अनुसार निर्वाचन होने थे । इसीलिये कांग्रेस को विधानसभाओं में जाने अथवा न जाने, चुनाव के लिये अपनी ओर से किसी को प्रत्याशी बनाने अथवा न बनाने और लोगों को निर्वाचन में भाग लेने अथवा न लेने के विषय में निर्णय करना था । जब कांग्रेस ने इन विधानसभाओं के बहिष्कार का निर्णय लिया तो इसके दो पक्ष थे । पहला पक्ष यह था कि कांग्रेस की ओर से कोई भी व्यक्ति सदस्यता के लिये खड़ा नहीं होगा । इसका दूसरा

पक्ष यह था कि कांग्रेस ने सम्पूर्ण देश में सभी मतदाताओं से विधान सभाओं के निर्वाचन के बहिष्कार करने को कहा । महत्वपूर्ण यह नहीं था कि क्या प्रस्ताव पारित किया गया ? महत्त्वपूर्ण यह था कि कांग्रेस प्रस्ताव का समर्थन सम्पूर्ण देश में किस सीमा तक हुआ । आरम्भ में चितरंजन दास, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय, वी राधवाचार्य आदि अनेक प्रभावशाली कांग्रेस जनों को विधान सभाओं का बहिष्कार पसन्द नहीं आया और आशंका यह थी कि देश के अलग-अलग भागों में कांग्रेसजन इसका विरोध करेंगे लेकिन ऐसा कम ही हुआ । सरकारी आकड़ों में भी यह स्वीकार किया गया कि केन्द्रीय विधानसभा के लिये मतदाताओं में से बीस प्रतिशत से भी कम लोगों ने मतदान किया । मध्य प्रान्त के प्रतिवेदनों से ज्ञात हुआ कि यहाँ बावन चुनाव क्षेत्र थे जिनमें से सात में कोई भी व्यक्ति निर्वाचन के लिये खड़ा ही नहीं हुआ और तेंतीस चुनाव क्षेत्रो में कोई प्रतिद्वन्दी ही नहीं था । इसका अर्थ यह हुआ कि मध्य प्रान्त में केवल बारह ऐसे चुनाव क्षेत्र थे जहाँ वास्तविक रूप से चुनावी संघर्ष हुआ । यह एक अलग बात थी कि कांग्रेस इन चुनावों से दूर रही । "शहरी क्षेत्रों में मतदान का प्रतिशत बहुत कम रहा था । बम्बई जैसे शहर के केवल आठ प्रतिशत मतदाताओं ने मतदान में भाग लिया जबकि लाहौर में मतदाताओं का प्रतिशत पांच था । इन तथ्यों से प्रमाणित हो जाता है कि कांग्रेस द्वारा की गयी अपील को सम्पूर्ण देश का समर्थन मिला और कौंसिल बहिष्कार की उसकी नीति पूर्णरूप से सफल रही ।

दिसम्बर 1920 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नागपुर में हुआ । इस अधिवेशन में और कलकत्ता के विशेष अधिवेशन के समय की कांग्रेस राजनीति में पर्याप्त अन्तर था क्योंकि कांग्रेस कौंसिल बहिष्कार के विवादग्रस्त प्रश्न को सुलझा चुकी थी । निर्वाचन समाप्त हो चुके थे । गांधी ने एक बार

फिर विधानसभा के बहिष्कार की नीति को दोहराया । यह अधिवेशन गांधी जी की सबसे बड़ी उपलब्धि थी क्योंकि इस समय तक उनके विरोधियों ने हथियार डाल दिये थे और सभी ने असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ कौंसिल बहिष्कार का क्रम बनाये रखने का निर्णय लिया ।[21]

एक जनवरी 1921 को नये अधिनियम का उद्‌घाटन ड्यूक आफ कनाट ने किया और इस अवसर पर उनकी टिप्पणी तत्कालीन स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालती है । उनका कहना था कि उन्हें " चारों ओर से कटुता और विरोध दिखाई दिया ।" उन्होंने आगे कहा " जो हमारे मित्र हो सकते थे वे हमारे विरोधी है ।" ऐसी परिस्थिति में आरम्भ किया गया अधिनियम भारतीयों को, राजनीतिज्ञों को, विशेष रूप से कांग्रेसियों को उत्साहित नहीं कर सका ।

द्वैध शासन प्रणाली की असफलता -

कांग्रेस द्वारा विधान सभाओं के बहिष्कार का परिणाम यह हुआ कि प्रान्तों में लागू की गयी द्वैध शासन व्यवस्था प्रायः आरम्भ से ही निष्क्रिय होती हुयी दिखाई दी । इस दोहरी शासन व्यवस्था का आधार यह था कि प्रान्तीय शासन का एक भाग गवर्नर के प्रति उत्तरदायी था जबकि उसका दूसरा भाग विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी था । उत्तरदायी शासन व्यवस्था तभी सफल हो सकती थी जब प्रान्तीय शासन थोड़ा या अधिक जितना भी संभव हो सकता विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी होता । दूसरे शब्दों में विधानसभायें प्रान्तीय सरकार पर तभी प्रभावी नियन्त्रण रख सकती थी जब वे स्वयम् अधिनियम के दायरे में जन प्रतिनिधि होने का दावा करती। कांग्रेस के बहिष्कार से ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुयी ।

विधान सभाओं के कांग्रेस के बहिष्कार का परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग प्रांतों में सरकार समर्थक, कांग्रेस विरोधी तथा नरम दलीय विचार रखने वाले और सामंतवादी जनप्रतिनिधि बने क्योंकि ऐसे ही लोग अधिकतर विधानसभाओं के लिये खड़े हुये थे और कभी चुन कर तथा कभी बिना चुने ही विधान सभाओं के सदस्य होकर जनप्रतिनिधि होने का दावा करने लगे। कुछ समय तक तो प्रान्तीय सरकारों को भी यह स्थिति अनुकूल दिखाई दी क्योंकि विधानसभायें प्रान्तीय सरकारों के कार्यों पर न तो अधिक आलोचना करती थी और न अधिक टीका टिप्पणी। परन्तु तीन वर्षों की अवधि में ही द्वैध शासन प्रणाली की कमियाँ पता चलने लगी। गवर्नर निरंकुश रूप से शासन करते रहे और गवर्नरों की कौंसिल के सदस्यों को प्रशासन पर पकड़ बनाये रखने का अवसर यथावत बना रहा।

कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में संवैधानिक नीति पर नये सिरे से विचार-

चितरंजन दास इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे परन्तु सरकार ने उन्हें बन्दी बना लिया था। अतः उनका अध्यक्षीय भाषण उनकी अनुपस्थिति में सरोजनी नायडू द्वारा पढ़ा गया। इस अध्यक्षीय भाषण में 1919 के अधिनियम के विषय में कांग्रेस की नीति को और भी स्पष्ट किया गया। चितरंजन दास ने पूछा कि " क्या इस अधिनियम में ऐसा कोई प्रावधान है जिससे कि ब्रिटिश संसद को विवश किया जा सके कि वह किसी भी समय भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का एक स्वतन्त्र और बराबरी की भागीदारी बना सकें " सी.आर. दास ने नकारात्मक उत्तर स्वयम् ही दिया उन्होंने कांग्रेस की आपत्तियों को स्पष्ट करते हुये कहा कि "हम ब्रिटेन से केवल एक ही शर्त पर सहयोग कर सकते हैं और वह शर्त यह हो सकती है कि वह भारत का यह अधिकार

स्वीकार करें कि भारत जब चाहे स्वतन्त्रता की मांग कर सकता था।" कांग्रेस के मंच से असहयोग आन्दोलन के दौरान स्वतन्त्रता के लक्ष्य की बात, ब्रिटिश साम्राज्य में भारत की स्थिति की चर्चा और मूलभूत अधिकारों का प्रश्न जब उठाया जाने लगा तो यह परिवर्तित राजनीतिक सूझबूझ का परिचायक था और इससे यह भी प्रकट हुआ कि 1920 के पूर्व ब्रिटिश सरकार से सहयोग और आशा का युग समाप्त हो चुका था । कांग्रेसियों का ब्रिटिश सरकार के आश्वासनों से विश्वास उठ गया था । कांग्रेस ठोस आधारभूत संवैधानिक परिवर्तनों से ही सन्तुष्ट हो सकती थी, दिखावे से नहीं । चितरंजन दास ने इस अवसर पर एक और मांग की जो समय के साथ-साथ बलवती होती गयी । यह मांग थी कि भारतीय स्वयम् अपने भाग्य का फैसला करें, तथा अपनी इच्छा का संविधान बनाये । दूसरे शब्दों में संविधान निर्माण में और किसी भी भावी संवैधानिक योजना में उनके विचारों को महत्व दिया जाय।

1921 में असहयोग आंदोलन चल रहा था और इसे और सशक्त बनाने का विचार सभी के मस्तिक में था । इसी कारण जहाँ एक ओर सरकार विरोधी दृष्टिकोण दिखाई दिया वहीं संविधान निर्माण में कांग्रेस ने अपना दृष्टिकोण खुले और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। चितरंजन दास के अध्यक्षीय भाषण का एक और अंश दृष्टव्य है :-

" मैं इस सिद्धान्त का विरोध करता हूँ कि प्रत्येक संवैधानिक विकास का समय और स्वरूप ब्रिटिश संसद निश्चित करें । दूसरे शब्दों में ब्रिटिश संसद ही निश्चय करेगी कि हम अच्छे बच्चों की तरह व्यवहारककर रहे हैं और तभी वह हमारे लिये संवैधानिक सुधार की एक और किस्त निश्चित करेगी तो क्या हम स्थायी रूप से बच्चे ही बने रहेंगे और ब्रिटिश संसद हमारी संरक्षिका बनी रहेगी?"[22] पहली बार चितरंजन दास ने अध्यक्षीय भाषण द्वारा यह विचार व्यक्त किया कि कांग्रेस को स्पष्ट रूप से कह देना चाहिये कि भावी संवैधानिक सुधार कार्यक्रम का निश्चय कोई

बाहर की शक्ति नहीं करेगी बल्कि भारतीय स्वयम् करेंगे । चितरंजन दास का भाषण भविष्य की कांग्रेस की नीति का आधार बना और कांग्रेस के मंचों से बार-बार यह कहा जाने लगा कि कोई भी आरोपित संवैधानिक सुधार योजना भारत में सफल नहीं हो सकती थी ।[23]

अन्त में यह कहा जा सकता है कि 1921 तक आते-आते कांग्रेस की नीतियों और दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देने लगा । अब कांग्रेस केवल ब्रिटिश संसद की ओर मुँह ताकने को तैयार नहीं थी । कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से यह मांग की कि भारतीयों को स्वयम् संवैधानिक व्यवस्था के स्वरूप पर चर्चा करने का अधिकार होना चाहिये । एक अन्य विचार जो इन वर्षों में पनपा वह था आधारभूत सैद्धान्तिक नीतियों पर आधारित संवैधानिक योजना तैयार करना । 1919 के संवैधानिक अधिनियम के अधीन गठित विधान सभाओं का बहिष्कार करके कांग्रेस ने समूची संवैधानिक प्रक्रिया को पंगु बना दिया था इससे यह स्पष्ट हो गया कि उसके पास पर्याप्त शक्ति तथा सशक्त जनाधार था और वह भारतीयों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर रही थी । स्पष्टतः कांग्रेस और उसके शीर्षस्थ नेता आधारभूत संवैधानिक परिवर्तनों की ओर ध्यान देने लगे और इसके साथ-साथ अधिनियम की व्यवस्थाओं को कार्यरूप देने के विषय में अपनी भूमिका को समझने लगे । कांग्रेस के दृष्टिकोण का एक अध्याय समाप्त हो चुका था और दूसरे अध्याय का आरम्भ असहयोग आन्दोलन के समय हुआ ।

-

सन्दर्भ

1. रिपोर्ट ऑन कांस्टीट्यूशनल रिफार्म, (लन्दन, 1918), पृष्ठ 4.
2. ए. एम. जैदी (सं0), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, (दिल्ली, 1985), पृष्ठ 72.
3. पट्टाभि सीतारामैय्या, दि हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड एक, (बम्बई, 1935), पृष्ठ 30.
4. बी. एन. पाण्डेय, ए सेन्टेनरी हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, खण्ड दो, पृष्ठ 410.
5. वही, पृष्ठ 410.
6. जे. एम. ब्राउन, गांधीज राइज टु पावर इंडियन पॉलिटिक्स 1915-1922 (कैम्ब्रिज, 1972), पृष्ठ 151.
7. एम एम. जैदी (सं0), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इंडिया, दिल्ली, 1985), भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रस्ताव, विशेष अधिवेशन, बम्बई, 1918.
8. ए. एम. जैदी (सं.), ए सेच्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इंडिया, (दिल्ली, 1985), पृष्ठ 73-79.
9. ए. सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड दो, पृष्ठ 420.
10. ए. एम. जैदी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 80.
11. ए. एम. जैदी ऐण्ड एस. जी. जैदी (सं0), दि ऐन सॉइक्लोपीडिया ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खंड सात, पृष्ठ 503.
12. महात्मा गांधी, आत्मकथा, पृष्ठ 73.

13. यंग इंडियाा, 31 दिसम्बर, 1919.

14. ए. एम. जैदी (सं0), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इंडिया, पृष्ठ 84-85.

15. जे. एम. ब्राउन, गांधीज राइज टू पावर, पृष्ठ , 145.

16. बी. आर. नन्दा, महात्मा गांधी, पृष्ठ 78.

17. वही, पृष्ठ 93.

18. आर. कूपलैण्ड, इंडियन प्राबलम् (लन्दन, 1968), पृष्ठ 60.

19. दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खंड 18, पृष्ठ 231.

20. वही, पृष्ठ 234.

21. वही, पृष्ठ 252.

22. जे. एम. ब्राउन, गांधीज राइज टू पावर इंडियन पॉलिटिक्स, 1915-1922, पृष्ठ 284-287.

23. ए. एम. जैदी ऐण्ड एस. जी. जैदी (सं0), दि ऐन सॉइक्लोपीडिया ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, (नयी दिल्ली, 1979), खंड आठ , पृष्ठ 120-140.

-

चतुर्थ अध्याय

स्वराजवादियों की संवैधानिक सुधारनीति और नेहरू-प्रतिवेदन

- कौंसिल बहिष्कार की स्वराज दल की नीति.
- संवैधानिक प्रणाली में मूल परिवर्तनों की स्वराज दल की मांग.
- 1926 के विधानसभाओं के निर्वाचन.
- स्वराज योजना का प्रारूप तैयार करने के आरम्भिक प्रयास.
- साइमन कमीशन का कांग्रेस द्वारा विरोध.
- साइमन कमीशन का प्रतिवेदन.
- सर्वदलीय सम्मेलन में संवैधानिक सुधारों पर विचार-विमर्श.
- नेहरू प्रतिवेदन के मुख्य सुझाव.
- कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन में नेहरू प्रतिवेदन पर विचार.
- कांग्रेस द्वारा स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित.

–

असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने के पश्चात् की राजनीति को संवैधानिक राजनीति कहा जाता है । गाँधी युग में जहाँ एक ओर समय-समय पर आन्दोलनात्मक संघर्ष हुये वही दूसरी ओर राष्ट्रीय संघर्षों के पश्चात् संवैधानिक राजनीति का क्रम भी आया । इस प्रकार आन्दोलनात्मक संघर्ष और संवैधानिक राजनीति का विकल्प लगातार कांग्रेस द्वारा अपनाया गया।

जब असहयोग आन्दोलन स्थगित हो गया और इसे पुनः आरम्भ करने की संभावना नहीं दिखाई दी तो 1919 के संवैधानिक सुधार अधिनियम के अधीन स्थापित केन्द्रीय विधानसभाओं और प्रांतीय विधान सभाओं के चुनावों में और इनके कार्यों में कांग्रेस द्वारा भाग लेने अथवा न लेने के विषय में गम्भीर तर्क-वितर्क शुरू हो गया । कांग्रेस के एक पक्ष का कहना था कि पहले कौंसिल बहिष्कार की नीति को संशोधित करने अथवा बदलने की आवश्यकता नहीं थी । राजेन्द्र प्रसाद, बल्लभ भाई पटेल और राजगोपालाचारी आदि नेताओं का यही मत था । इन्हें अपरिवर्तनवादी कहा गया । इसके विपरीत कांग्रेस में एक और विचार धारा रखने वाले लोग भी थे जिन्हें परिवर्तनवादी कहा गया । चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू इनमें प्रमुख थे । परिवर्तनवादियों की मांग थी कि असहयोग आन्दोलन के समाप्त होने के पश्चात् कांग्रेस को संवैधानिक राजनीति अपनाने में बिलम्ब नहीं करना चाहिये । 1922 के गया कांग्रेस अधिवेशन में परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच रस्साकसी की स्थिति आयी । इस अधिवेशन के अध्यक्ष चितरंजनदास थे । उन्होंने अध्यक्षीय भाषण में कौंसिल प्रवेश के पक्ष में तर्क दिये और यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि कांग्रेस को अपने कार्यक्रमों में परिवर्तन करके विधानसभाओं में प्रवेश का निर्णय करना चाहिये ।[1] कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा प्रस्तुत कौंसिल प्रवेश के प्रस्ताव को गया कांग्रेस में आये सदस्यों

ने बहुमत से अस्वीकार कर दिया । इससे एक अजीब स्थिति पैदा हो गयी क्योंकि कांग्रेस अध्यक्ष इस परिस्थिति में कोई न कोई कदम उठाने को विवश हो गया ।

कौंसिल बहिष्कार की स्वराज दल की नीति-

गया कांग्रेस के पश्चात् चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने मिलकर कांग्रेस के अन्दर एक नये दल की स्थापना करने का निर्णय लिया । इसे स्वराज दल कहा गया । यह नवगठित दल लगातार कांग्रेस के अन्दर रहकर ही काम करता रहा लेकिन फिर भी इसके दृष्टिकोण और कांग्रेस के दृष्टिकोण में अन्तर भी बने रहे । नवगठित स्वराज दल का उद्देश्य था - केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानसभाओं में प्रवेश । इसका अर्थ यह नहीं था कि स्वराज दल 1919 के अधिनियम को अच्छा समझता था अथवा 1919 के अधिनियम का स्वागत कर रहा था । वास्तविकता यह थी कि इस दल ने और भी अधिक सक्रिय रूप से 1919 के अधिनियम का विरोध करने का निर्णय लिया और 1919 के अधिनियम की त्रुटियों को उजागर करने का संकल्प व्यक्त किया ।[2] अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये स्वराज दल का निर्णय था "अन्दर जाकर संघर्ष करो अर्थात् कौंसिलों में प्रवेश करके 1919 की संवैधानिक अधिनियम की त्रुटियों को स्पष्ट करना । एक ओर जहाँ इस पार्टी ने 1919 के अधिनियम को अपर्याप्त बताने का निर्णय लिया वहीं दूसरी ओर इस दल ने अपनी ओर से ऐसे प्रस्ताव भी रखे कि 1919 के अधिनियम को नया रूप दिया जाय ।

लगभग आठ महीने तक स्वराज दल और कांग्रेस के बीच में मतभेद की स्थिति बनी रही । अन्त में दोनों पक्षों के बीच समझौता हो गया । सितम्बर 1923 को अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ इसमें यह तय किया गया कि उन कांग्रेसी सदस्यों को जो कौंसिलों में जाना चाहते हो तथा मतदान में भाग लेना चाहते हो ऐसा करने की उन्हें स्वतन्त्रता दी जाय। इस प्रस्ताव में कांग्रेस ने कौंसिल प्रवेश के अपने विरोध को वापस ले लिया ।[3] 1923 के समाप्त होते-होते विधान-सभाओं के लिये दूसरी बार चुनाव हुये । 1919 के अधिनियम द्वारा तीन वर्षों में विधानसभाओं के चुनावों की व्यवस्था थी । इस बार के चुनाव और 1920 के सम्पन्न हुये चुनावों में सबसे बड़ा अन्तर यही था कि जहाँ कांग्रेस ने 1920 में हुये चुनावों का पूरी तरह से बहिष्कार किया था वही 1923 में कांग्रेस की अनुमति से स्वराज दल ने केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनावों में भाग लिया । स्वराज दल के सदस्य विधान सभाओं की सदस्यता के लिये खड़े हुये थे और जिन लोगों को मताधिकार मिला हुआ था उनसे समर्थन की मांग की । ऐसी स्थिति में चुनाव अभियान सक्रिय रूप से चला । इन चुनावों में विधान सभाओं की भूमिका पर बहस होती रही।[4]

दिसम्बर 1923 में हुये प्रान्तीय कौंसिल और केन्द्रीय असेम्बली के चुनावों में स्वराजदल को पर्याप्त सफलता मिली । यह इस तथ्य का प्रतीक था कि मतदाताओं ने इसे समर्थन दिया था । 1919 के अधिनियम की अत्यंत सीमित तथा विशेष ढंग की चुनाव-प्रणाली के अधीन स्वराजदल को मिलने वाली इस सफलता से भविष्य के लिये आशायें बँधी । परन्तु स्वराजियों को सरकार पर दबाव डालने के लिये सदस्यों की कमी का अभाव बना रहा । केवल मध्य प्रान्त में स्वराजिओं को विधानसभाओं में पूर्ण बहुमत मिला था

जहाँ कुल चौव्वन सदस्यों में से चालीस स्वराजी सदस्य चुनकर गये थे। बंगाल में एक सौ ग्यारह सदस्य संख्या में स्वराजी सदस्य छत्तीस थे तथा उत्तर प्रदेश में कुल एक सौ एक में वे मात्र इक्तीस थे। फिर भी इन दोनों प्रान्तों में सबसे बड़े और प्रभावी संगठित दल के रूप में स्वराज दल सरकार की नीतियों का विरोध कर सकती थी।[5] केन्द्र में कुल एक सौ पाँच चुने गये सदस्यों में से बयालीस सदस्य स्वराजदल से चुनकर गये थे जो सत्ताइस उदारवादी तथा सात स्वतन्त्र सदस्यों से मिलकर केन्द्रीय असेम्बली में "अड़ंगा" डालने की नीति के अनुसार कार्य कर सके।[6]

1923 के निर्वाचनों के परिणाम स्वरूप जो राजनेता प्रान्तीय कौंसिलों की सदस्यता ग्रहण करने में सफल हुये उनमें लगभग तीस प्रतिशत स्वराज दल के थे। इससे स्वराजिओं का कार्यक्रम, संगठन और नेतृत्व और प्रभावी हुआ उदारदल वालों के पैर उखड़ गये और सरकार-समर्थक विधायकों की स्थिति कमजोर पड़ने लगी। स्वयं वायसराय ने बदली हुयी राजनीतिक स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया :- " इस समय हवा स्वराजिओं के पक्ष में बह रही थी। कोई उनके समकक्ष नहीं है, कोई उनके तुलना में नही है और कोई उनके विरोध में नहीं है[7] इस स्वीकारोक्ति से भली-भाति ज्ञात हो जाता है कि स्वराजिओं की सफलता से सरकार भी प्रभावित हुयी थी। निर्वाचन में स्वराजदल ने अपना प्रभाव तो सुदृढ़ किया था किन्तु संवैधानिक राजनीति के दुर्गम मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ने में उसके सम्मुख आन्तरिक तथा बाह्य कठिनाइयाँ लगातार फिर भी बनी रही।

संवैधानिक प्रणाली में मूल परिवर्तनों की स्वराज दल की मांग-

स्वराजदल के सदस्यों ने विधानसभाओं में पहुँचते ही संवैधानिक प्रणाली में परिवर्तनों की मांग करने का निर्णय लिया। इस विषय में उनका

सबसे महत्वपूर्ण निर्णय था " राष्ट्रीय मांग प्रस्तुत करना" स्वराजी और गैर स्वराजी सदस्यों का एक संगठन केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में बनाया गया।[8] केन्द्रीय विधान सभा में फरवरी 1924 में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित करके स्वराज दल के नेता के रूप में मोतीलाल नेहरू ने पूर्ण उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की मांग की। उन्होंने कहा :- " मेरा विचार है कि किसी को भी इसमें सन्देह नहीं होना चाहिये कि देश में स्वराज की भावना सभी के हृदयों में घर बना चुकी है। इससे भी कोई असहमत नहीं होगा कि यह इच्छा मानव मात्र में व्याप्त स्वतन्त्रता की अभिलाषा से प्रेरित है।"[9] इससे यह प्रकट हो जाता है कि स्वराज, स्वशासन तथा उत्तरदायी सरकार की स्थापना के पक्ष में लगातार तर्क देते हुए स्वराजदल के नेताओं ने विधान सभाओं का प्रयोग किया। 1919 के संवैधानिक अधिनियम पर केन्द्रीय विधानसभा में निराशा व्यक्त की गयी। मोतीलाल नेहरू के भाषण का एक अंश दृष्टव्य है :-

"हमारा उत्तर सीधा और स्पष्ट है कि अधिनियम की प्रस्तावना खराब है। सम्पूर्ण कानून, समस्त अधिनियम इतना खराब है जितना इसे उस प्राकृतिक इच्छा को दमन करने और रोकने के उद्देश्य से बनाया जा सकता था।"[10] पण्डित मोतीलाल नेहरू आरम्भ से ही यह कह रहे थे कि 1919 का अधिनियम पूर्ण रूप से अपर्याप्त था। इसके पश्चात् उन्होंने प्रभावी सुधार करने के पक्ष में वातावरण तैयार करने की पहल की।

स्वराजदल ने एक और महत्वपूर्ण मांग उठायी। उसने पूँछा कि संविधान निर्माण करने में अब तक भारतीयों को क्यों सम्मिलित नहीं किया गया? इस समय से स्वराजदल और कांग्रेस-द्वारा सतत् यह मांग हुई कि भारत के लिये किसी भी प्रकार के संवैधानिक अधिनियम में भारतीयों को सम्मिलित किया जाय। उनके भाषण का एक अंश इस प्रकार था :-

"मैं सोचता हूँ कि किसी देश के उस संविधान को संविधान कहना उचित नहीं है जिसके निर्माण में उसके निवासी सम्मिलित न हो । मैं कहता हूँ कि मैं वर्तमान अधिनियम को ऐसे संविधान का आदर नहीं देता यद्यपि मैं इसके नियमों को स्वीकार करता हूँ।"[11]

केन्द्रीय विधानसभा में अनेक प्रभावशाली वक्ताओं ने स्वराजियों की राष्ट्रीय मांग के स्वर में स्वर मिलाया । मो0 अली जिन्ना ने आपत्ति प्रकट करते हुये कहा कि गुप्त रूप से निर्णय लेने की सरकार की नीति अनुचित थी । मालवीय जी ने नौकरशाही की कार्यप्रणाली की आलोचना की । विट्ठल भाई पटेल ने सरकार से आग्रह करते हुये कहा कि वह यथाशीघ्र पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना करे । संविधान प्रक्रिया में मूल परिवर्तन की राष्ट्रीय मांग का प्रस्ताव जब केन्द्रीय विधान सभा में प्रस्तुत हुआ तो इसके पक्ष में चौसठ मत पड़े और इसके विपक्ष में आठ मत पड़े । सरकार द्वारा विरोध किये जाने के बाद भी केन्द्रीय विधानसभा में मोतीलाल नेहरू का प्रस्ताव स्वीकार होना स्वराजिओं की एक बड़ी नैतिक विजय थी । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि 1919 के अधिनियम को केवल स्वराजी ही नहीं बल्कि सभी राजनीतिक विचारधारा के लोग अपर्याप्त मानते थे ।

1926 के विधानसभाओं के निर्वाचन-

1919 के अधिनियम के अधीन विधानसभाओं के लिये तीसरी बार निर्वाचन 1926 में हुये । इस बार भी स्वराजदल ने कांग्रेस की ओर से निर्वाचनों में भाग लिया और पहले की नीति के अनुसार अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयास निरन्तर बनाये रखे । यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 1926 के निर्वाचनों में स्वराजदल कांग्रेस की ओर से भाग ले रहा था और

परिवर्तनवादी तथा अपरिवर्तनवादी विचार रखने वालों के बीच की दीवाल टूट चुकी थी ।

1926 में सम्पन्न होने वाले निर्वाचनों में कांग्रेस के आन्तरिक मतभेद तो दूर हो गये लेकिन अन्य मतभेद उभर कर सामने आये । मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय और एम.आर. जयकर मोतीलाल के पक्ष में नहीं थे और चितरंजन दास की मृत्यु हो चुकी थी । इन विपरीत परिस्थितियों के होते हुये भी परिणाम सामान्य रूप से आशा जनक रहे । अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हुये ।

उत्तर प्रदेश में स्वराजदल की संख्या तीस से घटकर इक्कीस रह गयी । मध्य प्रान्त में पहले इस दल के पैंतीस सदस्य थे जो अब घटकर सत्रह रह गये । मद्रास और बिहार के परिणामों से स्वराजिओं को कुछ सन्तोष हुआ । मद्रास में पहले दस स्थान स्वराजिओं को मिले जो अब बढ़कर सैतालिस हो गये । बिहार में स्वराजी सदस्यों की संख्या आठ से बढ़कर पैंतीस हो गयी । केन्द्रीय विधान सभा में उनकी यथास्थिति बनी रही ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 1926 के निर्वाचनों से स्वराजदल की स्थिति और अधिक सुधरी नहीं, फिर भी 1919 के संविधान की आलोचना करने और सरकार पर दबाव डालने के अवसर उन्हें लगातार मिलते रहे ।

स्वराजदल ने विधानसभाओं के लिये दूसरे और तीसरी बार सम्पन्न हुये निर्वाचनों में भाग लेकर अपना मुख्य उद्देश्य अवश्य प्राप्त किया । वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि 1919 के अधिनियम के प्रति भारतीय उत्साहित नहीं थे । राजनीतिक दलों की निराशा भी उन्होंने व्यक्त की । इसके साथ-साथ स्वराजदल ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया । उसके समर्थकों ने केवल इसी समय नही बल्कि आने वाले वर्षों में लगातार यह कहा कि पूर्ण

रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो और जो भी संविधान भारत में बने, उसके निर्माण में भारतीयों को सम्मिलित किया जाय ।

स्वराज योजना का प्रारूप तैयार करने के आरम्भिक प्रयास -

असहयोग आन्दोलन के बाद कांग्रेस की नीति केवल 1935 के अधिनियम की आलोचना करने तक सीमित नहीं रही, इसके अतिरिक्त कुछ प्रमुख कांग्रेसी नेताओं ने वैकल्पिक प्रस्तावों पर गम्भीर विचार - विमर्श शुरू कर दिया । उन्होंने वैकल्पिक संवैधानिक योजनाओं का प्रारूप तैयार किया और अन्य राजनीतिक दलों से इस विषय में परामर्श करके सर्वमान्य संवैधानिक योजना भारतीयों की ओर से तैयार करने के प्रयास भी किये । इस दिशा में पहला संकेत चितरंजन दास ने 1922 के गया कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में ही दे दिया था । उनका आग्रह था कि कांग्रेस की ओर से एक व्यापक योजना सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की जाय । अपनी मांग के विषय में उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में ये वाक्य कहे जो भविष्य की कांग्रेस की विचारधारा की ओर संकेत कर रहे थे :-

"स्वराज की हमारी मांग को और भी अधिक व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करना होगा । कांग्रेस को एक स्पष्ट योजना बना लेनी चाहिये और यह निर्णय कर लेना चाहिये कि हम किस प्रकार की सरकार चाहते हैं और किस प्रकार की सरकार से स्वराज की वास्तविक नींव पड़ सकती थी ।"[12] चितरंजन दास केवल अध्यक्षीय भाषण देकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गये । उन्होंने जनवरी 1923 में एक स्वराज योजना तैयार की

और भावी संविधान के स्वरूप की रूपरेखा के विषय में चिन्तन करना शुरू कर दिया। चितरंजन दास अपनी सीमाओं को भली-भाँति समझते थे इसी कारण उन्होंने प्रारम्भ से सम्पूर्ण संवैधानिक योजना न बनाकर केवल संवैधानिक रूपरेखा को बनाया और चाहा कि अन्य राजनीतिक दलों के सहयोग से तथा सभी के सुझावों से संवैधानिक रूपरेखा को व्यापक आधार दिया जाय।[13]

इसी प्रकार के भावी संविधान की रूपरेखा के विषय में अन्य स्तरों पर भी प्रयास शुरू हुये। नवम्बर 1924 में सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित किया गया, इसकी समिति ने एक प्रजातंत्रीय संविधान बनाने की कोशिश की। जनवरी 1925 में पुनः एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ जिसमें अलग-अलग वर्गों द्वारा स्वराज योजना का क्रम चलता रहा।[14]

इन्हीं वर्षों मे श्रीमती एनीबेसेन्ट ने एक ऐसी संवैधानिक योजना प्रस्तुत की जो सभी को स्वीकार हो। उन्होंने भी केन्द्रीय विधानसभा, प्रान्तीय विधानसभाओं तथा पहले के होमरूल के सदस्यों का एक सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में एक विधेयक तैयार किया गया। एनी बेसेन्ट की योजना केवल भारत तक सीमित नहीं थी। उन्होंने ब्रिटिश राजनीति को प्रभावित करने की कोशिश की जिससे कि ब्रिटेन के दृष्टि-कोण में परिवर्तन लाया जा सके। वे स्वयं ब्रिटेन गयी और श्रमिक दल के नेताओं से उन्होंने बात की। उन्हीं के परिणामों का यह प्रभाव हुआ कि दिसम्बर 1925 में श्रमिक नेता जार्ज सेल्सवरी ने कामन सभा में एक विधेयक का प्रारूप प्रस्तुत किया। यह विधेयक बहुमत के अभाव के कारण आगे नहीं बढ़ सका लेकिन फिर भी ब्रिटिश संसद के सम्मुख एक वैकल्पिक संवैधानिक योजना का प्रस्ताव प्रस्तुत करने से भारत की संवैधानिक स्थिति पर संसद का ध्यान अवश्य गया।

इसी क्रम में ब्रिटेन में "भारत के लिये स्वराज बिल" नामक एक संवैधानिक योजना जून 1927 में प्रस्तुत की गयी । इस योजना को स्वतंत्र श्रमिक दल के वार्षिक अधिवेशन में स्वीकार किया गया था और इस योजना को भारतीय सलाहकार परिषद् ने तैयार किया था । इस योजना के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुये यह कहा गया था कि भारत के लिये ऐसा संविधान बनाया जाय जो प्रगतिशील भारतीयों को मान्य हो । इसमें यह भी कहा गया कि इसमें तीन आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किये जाय- प्रजातन्त्र, स्वशासन तथा स्वतन्त्रता।[16] इस विधेयक में यह स्वीकार किया गया था कि इसकी आधारशिला एनीबेसेन्ट द्वारा तैयार किया हुआ विधेयक था । इस विधेयक की एक प्रमुख मान्यता यह भी थी कि भारत की संवैधानिक दृष्टि से वैसी ही स्थिति होनी चाहिये जैसी कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड की स्थिति थी । तर्क यह था कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन कुछ देशों को पर्याप्त शासन के अधिकार मिल सकते थे तो भारत को भी इस प्रकार के अधिकार दिये जा सकते थे ।[17]

धीरे-धीरे कांग्रेस में यह विचार बनने लगा कि उसके प्रयासों से एक ऐसी संवैधानिक योजना के निर्माण की आवश्यकता थी जो सभी राजनीतिक दलों को स्वीकार हो । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस समिति ने मई 1927 में इसी प्रकार के विचार सार्वजनिक रूप से व्यक्त किये :

"देश के राजनीतिक दलों की इस सर्वमान्य इच्छा को ध्यान में रखते हुये कि एक साथ मिलकर एक स्वराज संविधान बनाने की आवश्यकता है और कांग्रेस के सम्मुख विभिन्न प्रस्तावों को ध्यान में रखते हुये यह समिति कार्यकारिणी समिति को यह अधिकार देती है कि वह देश के दूसरे संगठनों से वार्तालाप करके एक स्वराज संविधान का निर्माण करे

जिसमें भावी भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार हो और जिसमें सभी के हितों तथा अधिकारों की घोषणा हो । ऐसी संवैधानिक योजना पर भविष्य में विचारने के लिये एक विशेष सम्मेलन आयोजित हो।"[18]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस समिति के इस प्रस्ताव से स्पष्ट है कि अन्य राजनीतिक दलों के सहयोग से किसी न किसी प्रकार के स्वराज संविधान के निर्माण की ओर बढ़ने का वह मन बना चुकी थी । यह सर्व-विदित था कि किसी सर्वमान्य और सर्वसम्मति के आधार पर बनायी गयी संवैधानिक योजना को मुस्लिम लीग का समर्थन भी प्राप्त होना था । 1926 के कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष श्री निवास आयंगर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस मांग का समर्थन किया और साथ-साथ अपनी ओर से भी एक संवैधानिक योजना प्रकाशित की ।[19] इस विवरण से यह स्पष्ट है कि अनेक अधिवेशनों तथा बैठकों में प्रमुख कांग्रेस सदस्यों के सुझावों से भारतीयों द्वारा अनुमोदित और सभी राजनीतिक दलों द्वारा समर्थित संवैधानिक योजना की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी ।

साइमन कमीशन का कांग्रेस द्वारा विरोध-

स्वराजदल और कांग्रेस ने पिछले कुछ वर्षों से भावी संवैधानिक परिवर्तन में भारतीय प्रतिनिधियों से परामर्श की मांग की थी । उनका कहना था कि किसी भी संवैधानिक परिवर्तन में भारतीय प्रतिनिधियों की समुचित भूमिका आवश्यक थी । इस आशाजनक स्थिति का उत्तर नवम्बर 1927 में ब्रिटिश सरकार ने साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा करके दिया । ब्रिटिश सरकार के निर्णय से कांग्रेस को घोर निराशा हुयी क्योंकि यह कांग्रेस की आशाओं के विपरीत निर्णय था ।

1919 के अधिनियम में यह प्रावधान था कि दस वर्ष बाद इसकी समीक्षा की जायेगी । इस प्रावधान के अनुसार 1919 में इस अधिनियम की परिविवेचना होने की संभावना थी लेकिन निर्धारित अवधि के दो वर्ष पूर्व ही ब्रिटिश सरकार ने 1919 के अधिनियम पर पुनर्विचार करने के लिये एक कमीशन की घोषणा कर दी । इसका एक प्रमुख कारण था कि 1929 में ब्रिटेन में चुनाव होने वाले थे और इन चुनावों में अनुदार दल को फिर से जीतने की अधिक आशा नहीं थी, आशंका यह भी थी कि श्रमिक दल भावी चुनावों में विजयी होगा । इस संभावना के कारण तत्कालीन अनुदार सरकार ने निर्धारित अवधि से पूर्व ही एक आयोग की स्थापना करने की घोषणा कर दी । ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय को भारत में शंका की दृष्टि से देखा गया क्योंकि सभी राजनीतिक दलों को इसका अनुमान हो गया था कि तत्कालीन अनुदार सरकार भविष्य में ब्रिटेन में आने वाली सरकार को कोई अवसर नहीं देना चाहती थी ।

जो कमीशन 1927 में नियुक्त हुआ था वह इसके अध्यक्ष के नाम से साइमन कमीशन के नाम से जाना जाता है । इसकी नियुक्ति का एक विवादग्रस्त पक्ष था निर्धारित अवधि के पहले ही इसकी नियुक्ति से भारत में आशंकाये उपजना । इसके अतिरिक्त भी समिति के सदस्यों को ले करके भी भारत में तीखी प्रतिक्रिया हुयी । इस कमीशन के सात सदस्यों में सभी सदस्य अंग्रेज थे । किसी भी भारतीय को इस कमीशन का सदस्य नहीं बनाया गया । इससे एक बार फिर यह सिद्ध हो गया कि भारत की संवैधानिक प्रक्रिया में या उसकी जांच में तथा उस पर विचार करने की स्थिति में भारतीयों की उपेक्षा करने की नीति जानबूझकर अपनायी जा रही थी । बीसवीं सदी के तीसरे दशक में

भी संवैधानिक परिवर्तन की उसी परम्परागत प्रक्रिया को अपनाया जा रहा था जो पिछले अनेक दशकों से चलती आ रही थी अर्थात् केवल अंग्रेजों द्वारा और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा भारतीय संवैधानिक दावों पर विचार करना ।[20]

फरवरी 1928 और अक्टूबर 1929 में दो बार साइमन कमीशन के सदस्यों ने दो-दो महीने या इससे भी अधिक समय तक भारत की यात्रा की तथा विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों से सम्पर्क किया । संवैधानिक कार्यप्रणाली के विषय में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों से वार्ता की और भविष्य में दी जाने वाली प्रतिवेदन का आधार तैयार किया ।

साइमन कमीशन के भारत आने से और इसके विरुद्ध उपजे व्यापक राजनीतिक प्रतिरोध ने सम्पूर्ण भारतीय राजनीति को परिवर्तित होने में सहायता की क्योंकि पूरे उन्नीस सौ अट्ठाइस के वर्ष में 1919 के अधिनियम की अच्छाइयों और बुराइयों पर, इसकी त्रुटियों और कमियों पर भावी संवैधानिक परिवर्तनों के स्वरूप पर गम्भीर चर्चा आरम्भ हो गयी ।

साइमन कमीशन का विरोध करते हुये कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से अपनी आपत्तियाँ प्रकट की । मद्रास में आयोजित कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में साइमन कमीशन के विरोध का नारा दिया गया । कांग्रेस ने भारतीयों से कहा कि वे प्रत्येक स्थान पर साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करें । विधानसभाओं के गैर-सरकारी सदस्यों से आग्रह किया कि वे कमीशन के साथ न किसी प्रकार का सहयोग करे और न इसके सम्मुख साक्ष्य दे और केन्द्रीय विधानसभा के राजनीतिक दलों से कहा गया कि वे किसी भी प्रकार की बहस में भाग न ले जिसमें कमीशन के बारे में किसी भी प्रकार की वार्ता हो । विदित है कि मद्रास की 1927 की कांग्रेस ने पूर्ण रूप से साइमन कमीशन के बहिष्कार करने का निर्णय लिया था ।[21]

1928 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पुनः साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव पारित किया जिसमें भारतीयों को धन्यवाद दिया गया कि उन्होंने सफलतापूर्वक कमीशन का बहिष्कार किया था । कांग्रेस ने उन राजनीतिक दलों और ग्रुपों की आलोचना की जिन्होंने कहीं-कहीं पर साइमन कमीशन का साथ दिया था । कांग्रेस ने ऐसे लोगों के सामाजिक बहिष्कार करने की अपील की । कांग्रेस ने बहिष्कार को यथावत् बनाये रखने का आग्रह किया और यह कहा कि भविष्य में जहाँ-जहाँ कमीशन के सदस्य जायें वहाँ-वहाँ पर हड़ताल, प्रदर्शन और विरोध का क्रम प्रभावी रहे ।[22]

साइमन कमीशन की नियुक्ति, संगठन के स्वरूप तथा इसकी प्रक्रिया से विरोध प्रकट करके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने यह स्पष्ट कर दिया कि किसी भी आरोपित जांच समिति में उसे आस्था नहीं थी और भारतीयों ने जिस व्यापक पैमाने पर कमीशन का बहिष्कार किया उससे देशवासियों की निराशा भी प्रकट हो गयी ।

साइमन कमीशन का प्रतिवेदन-

साइमन कमीशन ने दो वर्ष तक कठिन परिश्रम करके एक प्रतिवेदन तैयार किया ।यह प्रतिवेदन मई 1930 में प्रकाशित हुआ । इसमें भारत के सम्बन्ध में निम्न संस्तुतियां की गयी थी :-

प्रांतों में 1919 के अधिनियम के अनुसार आरम्भ किया हुआ दोहरा शासन अनेक आन्तरिक दोषों और साम्प्रदायिक विरोध के कारण सफल नहीं हो सका, अतः इसको समाप्त करके प्रांतों को स्वायत्तता दी जाय । सारा प्रांतीय शासन मंत्रियों को सौंप दिया जाय और उसको प्रांतीय विधानमण्डल के प्रति जिम्मेदार बनाया जाय । प्रांतों में राज्यपाल

को विशेष शक्तियां दी जाय तांकि वे विशेष परिस्थितियों में मंत्रियों के सुझाव की उपेक्षा कर सकें और अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकें । संविधान के असफल होने पर राज्यपालों को विशेष शक्तियों के आधार पर प्रांतों का शासन संभालने का अधिकार हो ।

प्रांतो और केन्द्र में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिये राज्यपालों तथा महाराज्यपाल को विशेष शक्तियां दी जाय । प्रांतो और केन्द्र में शासन को ठीक तरह से चलाने के लिये भी गवर्नर और गवर्नर-जनरल को विशेष अधिकार दिये जाय । गवर्नर अपने मंत्रिमंडल में एक या अधिक अनुभवी सरकारी अधिकारी सम्मिलित कर सकता था जो जनता द्वारा निर्वाचित न हो परन्तु वह गवर्नर और गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी न हो बल्कि प्रांतीय विधानमण्डल के प्रति ही उत्तरदायी हो ।

1926 में भारत की कुल 2.8 प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त था । इसलिये कमीशन ने मताधिकार के विस्तार की संस्तुति करते हुये कहा कि कम से कम दस या पन्द्रह प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त होना चाहिये । उन्होंने चुनाव की साम्प्रदायिक पद्धति को भी यथावत् बनाये रखने का सुझाव दिया गया ।

साइमन कमीशन ने केन्द्र में दोहरे शासन के आरम्भ को अनावश्यक बताया और यह कहा कि केन्द्र में पूर्व की भाँति अनुत्तरदायी सरकार रहनी चाहिये । अतः कमीशन ने केन्द्रीय विधानमंडल को केन्द्रीय सरकार पर नियंत्रण करने की शक्ति न देने का सुझाव दिया । कमीशन ने शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता पर बल दिया । जब प्रतिरक्षा की समस्या

ठीक तरह से सुलझ जाय, इसके पश्चात् ही केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के पक्ष में सोचा जा सकता है ।

साइमन कमीशन ने यह संस्तुति की कि प्रांतीय विधान मंडलों का विस्तार किया जाय और महत्वपूर्ण प्रांतों में 200 से लेकर 250 तक सदस्य सम्मिलित किये जाय । प्रांतीय विधानमंडलों में सरकारी अधिकारी नहीं रहे और मनोनीत गैर सरकारी अधिकारियों की संख्या विधानमंडल कीसमस्त संख्या के दसवें भाग से अधिक न हो । जिन प्रांतों में मुसलमानों की संख्या थोड़ी थी, वहाँ पर मुसलमानों को विधानमण्डलों में विशेष प्रतिनिधित्व दिये जाने की संस्तुति की गयी ।

भविष्य में संघ की भावनाओं को ध्यान में रखते हुये कमीशन ने संस्तुति की कि भारत के लिये एक ऐसी परिषद् की स्थापना की जाय जिसमें ब्रिटिश प्रांतों और देशी रियासतों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों और वे कुछ साझे मसलों पर विचार कर सकें । कमीशन ने कहा कि ऐसा समय नहीं आया है कि देशी रियासतों और ब्रिटिश प्रांतो का संघ स्थापित किया जा सके ।

सिंध को बम्बई से पृथक करने तथा उड़ीसा को पृथक प्रांत बनाने के सम्बन्ध में विशेष जांच की संस्तुति की तथा वर्मा को भारत से पृथक करने का सुझाव दिया और सेना के भारतीयकरण की आवश्यकता अनुभव की थी ।

उत्तर -पश्चिमी सीमा प्रांत के लिये प्रांतीय विधानमंडल की स्थापना का सुझाव दिया गया था तथा प्रांतीय और अधीनस्थ सेवाओं के लिये लोक सेवा आयोगों की स्थापना की अनुशंसा की गयी ।

प्रति दस वर्ष बाद संवैधानिक जांच की पद्धति का परित्याग किया जाय तथा नवीन संविधान का निर्माण किया जाय जो स्वविकास की व्यवस्था से युक्त हो ।

साइमन कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में औपनिवेशिक स्वराज की उपेक्षा की तथा केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने की मांग को स्वीकार नहीं किया । प्रांतीय गवर्नरों को प्राप्त विशेषाधिकारों को देखते हुये प्रांतीय स्वशासन का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं था । इसीलिये कांग्रेस ने इसे अस्वीकार किया और इसकी आलोचना की ।

सर्व-दलीय सम्मेलन में संवैधानिक सुधारों पर विचार-विमर्श-

फरवरी 1928 में दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित किया गया । इस सम्मेलन के आयोजित करने के पूर्व कांग्रेस और मुस्लिम लींग के नेताओं के बीच पर्याप्त विचार-विमर्श हो चुका था । मुसलमानों की ओर से भावी संविधान के विषय में कुछ मांगे प्रस्तुत की गयी थी । कांग्रेस ने चार सदस्यीय समिति बनाकर मुस्लिम लीग की मांगों पर विचार किया। इसी समय हिन्दू महासभा की ओर से भी कुछ प्रस्ताव प्रस्तुत हुये । इससे स्पष्ट होता है कि अलग-अलग राजनीतिक दल देश के संविधान के भावी स्वरूप के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार कर रहे थे ।[23]

इन विचार-विमर्शों के बाद और आरम्भिक वार्ताओं के हो जाने पर फरवरी 1928 में सर्वदलीय सम्मेलन शुरू हुआ जिसमें लगभग सौ सदस्यों ने भाग लिया तथा संवैधानिक योजना तैयार करने की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण नेता उपस्थित थे । इनमें से प्रमुख थे - मदनमोहन मालवीय, मोतीलाल, नेहरू, लाला लाजपतराय, तेज बहादुर सप्रू, डा० एम. ए. अन्सारी, मो० अली जिन्ना,

हसरत मुहानी, हृदयनाथ कुंजरू, मो0 अली, बालकृष्ण शिवराज मुन्जे और महमूदाबाद के राजा । इस सर्वदलीय सम्मेलन की कार्यवाही के जो तथ्य उपलब्ध हैं उनसे यह जानकारी मिलती है कि जो आरम्भिक कठिनाइयाँ सामने आयी, उनमें मुख्य थी साम्प्रदायिक समस्या का समाधान और भावी संविधान के विषय में मुस्लिम लीग की आशंकाये । मुस्लिम लीग की एक मुख्य मांग थी कि सिन्ध को एक स्वतन्त्र प्रान्त बना दिया जाय जो मुस्लिम बहुल प्रान्त होता । सम्मेलन के कुछ सदस्यों ने जो हिन्दू विचार-धारा का समर्थन करते थे, उन्होंने इसका विरोध किया । इसके अतिरिक्त जो अन्य विवाद के प्रश्न आये उनमें से प्रमुख था कि पंजाब और बंगाल में मुस्लिम बहुमत को सीटें देना ।[24]

इस आरम्भिक विचार के बाद कुछ समय के लिये सम्मेलन स्थगित हो गया । मई 1928 में सर्व-दलीय सम्मेलन की बैठक पुनः बम्बई में हुयी। इस सम्मेलन मे भी मुसलमान नेताओं के विचारों के कारण कोई सर्वमान्य हल नहीं निकल सका । अनेक विवादग्रस्त प्रश्न उठाये गये । अतः यह निश्चय किया गया कि एक छोटी समिति का निर्माण कर दिया जाय जो सभी पहलुओं पर विचार करके एक निश्चित संवैधानिक रूपरेखा प्रस्तुत करे । सर्वदलीय सम्मेलन की ओर से जिस समिति का गठन किया गया उसमें कांग्रेस की ओर से मोतीलाल नेहरू एक मात्र प्रतिनिधि थे और वे ही इस समिति के अध्यक्ष बने । कांग्रेस ने केवल एक प्रतिनिधि इसी कारण रखा था कि जिससे नौसदस्यीय समिति में सभी राजनीतिक दलों और विचारों के व्यक्तियों का योगदान रहे । इनमें दो सदस्य मुस्लिम लीग के थे अली इमाम और सुएब कुरेशी तथा दो सदस्य हिन्दू महासभा के थे - एम. एस.

अणे और एम.आर. जयकर और सरदार मंगल सिंह सिक्खों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिये थे। तेजबहादुर सप्रू उदारवादियों की ओर से तथा एम. एन. जोशी श्रमिकों के प्रतिनिधि के रूप में समिति के सदस्य बने।

नेहरू प्रतिवेदन के मुख्य सुझाव-

जिन परिस्थितियों तथा जिस वातावरण में भारतीय राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों ने नेहरू समिति का गठन किया और जिस प्रकार की चुनौतियां 1927 और 1928 में उपस्थित थी। उनका समाधान निकालना पर्याप्त कठिन कार्य था। फिर भी देश के हित में पहली बार गम्भीरता से यह प्रयास किया गया कि भारतीय स्वयं एक संवैधानिक योजना के विषय में एकमत हो। हिन्दू महासभा के विचार, मुस्लिम लीग की आशंकायें और कांग्रेस का व्यावहारिक दृष्टिकोण ऐसे तत्व थे जो भावी सफलता की ओर संकेत तो कर रहे थे लेकिन फिर भी जो यह भी दिखा रहे थे कि नेहरू समिति के सम्मुख कठिनाइयां कम नहीं थी।

नेहरू समिति ने बड़ी लगन और परिश्रम से जो प्रतिवेदन तैयार किया वह नेहरू प्रतिवेदन कहलाया जिसमें भावी भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार किया गया। इसके निर्माण में कुछ सदस्यों ने कम और कुछ सदस्यों ने अधिक भूमिका निभायी। सर्वप्रथम कांग्रेस के प्रयासों से और अन्य राजनीतिक दलों के परामर्श से देश के संविधान के ढाँचे के विषय में सरकार से स्वतन्त्र होकर और सरकार से अलग रहकर एक योजना तैयार की गयी और इसका प्रकाशन पुस्तक के आकार में किया गया। इस प्रतिवेदन का महत्व यही है कि भारतीय राजनीतिक दलों की ओर से संविधान का सम्पूर्ण ढाँचा तैयार किया गया जो देश के स्वाधीनता संघर्ष के समय और उसके उपरान्त भी संविधान निर्माताओं के लिये प्रकाश स्तम्भ बना रहा।[25]

नेहरू-रिपोर्ट के मुख्य सुझावों की बात करते समय सर्वप्रथम हमें यह विचार करना होगा कि इसमें राजनीतिक लक्ष्य का निर्धारण किस प्रकार किया गया । इस विषय में आरम्भ से ही मोतीलाल नेहरू पसोपेश में पड़ गये । वे भलिभाँति जानते थे कि कांग्रेस द्वारा स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित किया जा चुका था और कांग्रेस का एक बड़ा वर्ग इसी लक्ष्य की प्राप्ति चाहता था । यह जानकारी रखते हुये भी नेहरू प्रतिवेदन में यह स्पष्टीकरण भी जोड़ा गया, " इसे एक दूर का लक्ष्य अथवा ऐसा लक्ष्य न माना जाय जिसकी प्राप्ति क्रमिक रूप से हो बल्कि इसे अविलम्ब प्राप्त हो सकने वाले चरण " के रूप में स्वीकार किया जाय ।[26] दूसरे शब्दों में प्रतिवेदन का तर्क यह था कि औपनिवेशिक स्वराज के तुरन्त स्वीकृत हो जाने पर ही भारतीय सन्तुष्ट हो सकते थे प्रतिवेदन में इस प्रकार का लक्ष्य निर्धारित किया गया तो इसका एकमात्र कारण यही था कि दूसरे राजनीतिक दल इससे अधिक की मांग को या तो अवास्तविक मानते थे अथवा सरकार के रुख के अनुसार इसे वे पर्याप्त समझ रहे थे ।

नेहरू - प्रतिवेदन में यह स्वीकार किया गया कि इसके सम्मुख एक बड़ा प्रश्न था- साम्प्रदायिक समस्या के समाधान हेतु सभी पक्षों को मान्य हल ढूढ़ना । इसके अतिरिक्त इस प्रतिवेदन को वास्तविक स्वरूप देने वालो की इच्छा यह भी थी कि साम्प्रदायिक समस्या का समाधान राष्ट्रहित में हो । इस सन्दर्भ में नेहरू -प्रतिवेदन में साम्प्रदायिक समस्या के समाधान हेतु कुछ निर्भीक प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये । अपने समाधान को प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रतिवेदन में मुस्लिम समुदाय को सन्तुष्ट करने तथा उसकी आशंकाओं को दूर करने के प्रयास भी किये गये । इस प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से स्वीकारा गया कि सभी अल्पसंख्यक समुदायों की संस्कृति को

बनाये रखने के लिये उपाय किये जायें और मुस्लिम लीग की इस मांग को स्वीकार कर लिया गया कि सिन्ध को एक अलग प्रान्त घोषित किया जाय और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त को वही पद प्राप्त हो जो अन्य प्रान्तों को प्राप्त था। इस प्रकार दो मुस्लिम-बहुल प्रान्तों को इस आशा से स्वीकार किया गया कि मुस्लिम समाज अन्य भागों के सम्बन्ध में समझौता करने हेतु आगे बढ़ेगा।[27] इस प्रतिवेदन का यह सुझाव सबसे अधिक विवादास्पद सिद्ध हुआ कि मुसलमानों को केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानसभाओं में कितनी संख्या में प्रतिनिधित्व मिले और उनके प्रतिनिधियों का निर्वाचन किस प्रकार हो। केन्द्रीय विधायिका में तथा हिन्दू-बहुल प्रान्तों में मुसलमानों के लिये सीटें सुरक्षित कर दी गयी। जनसंख्या के अनुपात से अधिक सीटें सुरक्षित करने की मांग को प्रतिवेदन द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इसी के साथ-साथ समिति ने बंगाल और पंजाब में भी मुस्लिम प्रतिनिधियों के लिये अलग से सीटें सुरक्षित नहीं की। इन दो प्रान्तों के सम्बन्ध में समिति का तर्क यह था कि यहाँ मुसलमान बहुसंख्यक वर्ग के थे और इस कारण उनके लिये इन दो प्रान्तों में अलग से सीट सुरक्षित करने की आवश्यकता नहीं थी। अलग प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को भी समिति ने अस्वीकार कर बड़े ही साहस का परिचय दिया था। 1916 के लखनऊ समझौते के समय से मुस्लिम प्रतिनिधियों का निर्वाचन जिस अलग प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त द्वारा किया जा रहा था उसे समाप्त कर देने का सुझाव नेहरू-समिति द्वारा दिया गया था। समिति ने यह आशा की थी कि सभी समुदायों के लोगों को वयस्क मताधिकार मिल जाने से भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को बल मिलेगा। समिति ने आशा प्रकट की थी कि संयुक्त मताधिकार अपनाने से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सम्बन्धों को सुधारने में सहायता मिलेगी।

देश के इतिहास में सर्वप्रथम संवैधानिक प्रस्तावों में मौलिक अधिकारों को सम्मिलित करने का सुझाव दिया गया था । प्रत्येक नागरिक के मूलभूत अधिकारों को संविधान द्वारा स्वीकृत करने की मांग नेहरू-समिति ने की । इसने उन मौलिक अधिकारों का विवरण प्रस्तुत किया जो प्रत्येक नागरिक के लिये आवश्यक थे ।[28]

भारत के संवैधानिक इतिहास में इस प्रश्न को लेकर लगातार विवाद चल रहा था कि भावी संविधान का स्वरूप एकात्मक हो अथवा संघात्मक मुस्लिम लीग तथा अन्य अल्पसंख्यक वर्ग संघात्मक संविधान के पक्ष में थे और वे इसी की मांग कर रहे थे । नेहरू-समिति ने इस सम्बन्ध में जो हल निकाला, उसकी प्रेरणा उसे भारत के इतिहास से मिली । नेहरू-समिति ने संघात्मक शासन का मिश्रित स्वरूप भावी संविधान के लिये उपयुक्त समझा ।[29] प्रांतों को पर्याप्त स्वायत्तता देने के बाद भी समिति ने केन्द्र की शक्ति को प्रभावशाली बनाये रखने के सुझाव दिये । राष्ट्रीय एकता को सशक्त बनाने के लिये समिति ने केन्द्रीय शक्ति में किसी भी प्रकार की कमी करने के विचार को अस्वीकार किया । लगभग वही विचार हमारे संविधान निर्माताओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भी प्रकट किये थे ।

समिति ने भविष्य में प्रांतों को स्वायत्तता देने पर विशेष बल दिया । प्रांतों और केन्द्र में संघीय आधार पर शक्तियों के बटवारे का सुझाव दिया गया । अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र के पास रखी गयी । ऐसा कनाडा के संविधान को आदर्श मानकर किया गया था ताकि केन्द्र शक्तिशाली बना रहे । प्रांतों में कानून बनाने के लिये एक सदनीय व्यवस्थापिका बनाने का सुझाव दिया गया ।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्विसदनीय होनी चाहिये । इसके निम्न सदन का निर्माण प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति तथा वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिये और उच्च सदन के निर्माण हेतु परोक्ष निर्वाचन व्यवस्था को अपनाया जाना चाहिये । केन्द्रीय व्यवस्थापिका को सभी केन्द्रीय विषयों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त होना चाहिये । निम्न सदन की संख्या 500 और उच्च सदन की सदस्य संख्या 200 निश्चित की गयी ।

प्रतिवेदन में कहा गया कि केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना होना चाहिये । उत्तरदायी शासन की इस व्यवस्था के अंतर्गत गवर्नर-जनरल द्वारा ऐसे वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य किया जाना चाहिये, जो अपने सभी कार्य लोकप्रिय मंत्रियों के सुझाव के आधार पर करे ।

प्रांतों में द्वैध शासन का अंत कर ऐसा पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाना चाहिये, जिसमें प्रांतों की कार्यकारिणी पूर्ण रूप से प्रान्तीय विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी हो ।

नेहरू प्रतिवेदन में, भारत में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना पर भी बल दिया गया । ब्रिटिश प्रिवी परिषद् में अपीले भेजने की व्यवस्था को समाप्त करने का सुझाव दिया गया । सर्वोच्च न्यायालय संविधान की व्याख्या करेगा और प्रांतों में झगड़ों का निपटारा करेगा ।

भारत की प्रतिरक्षा के लिये नेहरू-प्रतिवेदन में प्रतिरक्षा समिति की भी व्यवस्था थी । इस समिति में प्रधानमन्त्री, कुछ अन्य मंत्री, सेना के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष व कुछ विशेषज्ञ होते थे ।

नेहरू प्रतिवेदन में कहा गया कि नये संविधान में केन्द्रीय सरकार को रियासतों के ऊपर वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे, जो अभी ताज के अधीन केन्द्रीय सरकार को प्राप्त थे। देशी नरेशों के अधिकारों की सुरक्षा का वचन दिया गया।

अगस्त 1928 में नेहरू-प्रतिवेदन प्रकाशित हो गया था। इस समय से लेकरके वर्ष के अन्त तक इस संवैधानिक योजना के पक्ष में विचार-विमर्श चलता रहा। कांग्रेस के नेता तथा कांग्रेस यह भली-भाँति जानते थे कि इस योजना की सफलता अन्य राजनीतिक दलों के सहयोग पर निर्भर करती थी। मोतीलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग के नेता मो0 अली जिन्ना से सम्पर्क किया तथा उनका समर्थन पाने के सभी प्रकार के उपाय किये। महात्मा गांधी ने भी इस नेहरू योजना के समर्थन में अपना वक्तव्य प्रकाशित किया।[30] केवल इतना ही, नहीं गांधी जी ने अन्य राजनीतिक दलों से यह आग्रह किया कि वे इस योजना को सफल बनायें।

<u>कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन में नेहरू प्रतिवेदन पर विचार-</u>

अट्ठाइस अगस्त 1928 से तीन दिवसीय सर्वदलीय राजनीतिक सम्मेलन कलकत्ता में आयोजित हुआ जिसमें विभिन्न राजनीतिक दलों, धार्मिक संघो, व्यापारी संघो, जमींदारों, पिछड़ी जातियों, मजदूर संघों आदि के प्रतिनिधि एकत्रित हुये। नेहरू-प्रतिवेदन का भविष्य मुसलमानों की प्रतिक्रिया पर निर्भर होता दिखाई दिया। इसलिये मुस्लिम प्रतिनिधियों के स्वरूप पर ध्यान देना आवश्यक है। कलकत्ता के राज-नीतिक सम्मेलन में लगभग दो सौ मुस्लिम प्रतिनिधि भाग ले रहे थे जो केन्द्रीय खिलाफत समिति, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग, शियाओं और अहमदियाँ समुदायों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। कुछ प्रमुख मुस्लिम

नेताओं ने इस सम्मेलन में भाग लेने से मना कर दिया था और नेहरू-प्रतिवेदन का खुलकर विरोध किया । इनमें से प्रमुख थे - शौकत अली और हसरत मुहानी । परन्तु एक व्यक्ति जिसके दृष्टिकोण पर बहुत कुछ निर्भर था, वह था मो० अली जिन्ना । कांग्रेस नेताओं ने भरसक जिन्ना के समर्थन के प्रयास किये, परन्तु जिन्ना ने सर्वदलीय सम्मेलन में नेहरू - प्रतिवेदन का विरोध किया और तीन संशोधन प्रस्तुत किये । जिनमें पहला था - केन्द्रीय विधान सभा में एक तिहाई मुस्लिम सदस्यों के विषय में सबकी सहमति, दूसरा -पंजाब और बंगाल के मुसलमानों को विशेष रियायते और तीसरा- केन्द्र और प्रान्त के विषयों की सूची के अतिरिक्त शेष बची हुई शक्तियों को प्रान्त को देना ।[31] कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन में केवल मुस्लिम प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण गैर-समझौतावादी बना रहा । उन्हें नेहरू-प्रतिवेदन के कई प्रावधानों पर आपत्तियाँ थी । इसी अवसर पर मोतीलाल नेहरू ने यह आधारभूत मत भी व्यक्त किया कि राजनीतिक समस्या का समाधान पूर्व में कर लिया जाय और हिन्दू-मुस्लिम समस्या का निपटारा राजनीतिक समस्या सुलझाने के बाद हो। उनके शब्द इस प्रकार थे :- " ब्रिटिश सरकार को औपनिवेशिक आधार पर अविलम्ब पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना कर देनी चाहिये और मैं यह पूर्ण विश्वास दिला सकता हूँ कि और किसी प्रकार के अन्य मतभेद जो संभवतः उठे, कुछ समय में ही समाप्त कर लिये जायेंगे।" यही नीति कांग्रेस की भी थी । इसका मूल आधार यह था कि सभी राजनीतिक वर्गों तथा सम्प्रदायों को राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति को एकमात्र अपना लक्ष्य बनाना चाहिये । इस मान्यता का आधार यह था कि स्वराज, औपनिवेशिक स्वराज या स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत हिन्दू-मुसलिम समस्या का सुलझाना कठिन

नहीं होगा । इसके साथ ही हिन्दू महासभा के प्रतिनिधि भी अपनी बात पर अड़े हुये थे और वे मुसलमानों को अधिक रियायते देने के पक्ष में नहीं थे ।

इस स्थिति में यह सम्मेलन कोई सर्वमान्य हल नहीं निकाल सका और नेहरू प्रतिवेदन को स्वीकारने के लिये अन्य राजनीतिक दल तैयार होते हुये नहीं दिखाई दिये ।[32] धार्मिक विवादों के कारण और अलग- अलग सम्प्रदायों के बीच में तालमेल न होने के कारण नेहरू प्रतिवेदन को अनुकूल वातावरण नहीं मिला । इस सम्मेलन के अध्यक्ष एम. ए. अंसारी की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है । उन्होंने सम्मेलन के विषय में यह लिखा :-

"मुसलमानों ने पहले ही नेहरू प्रतिवेदन के विपक्ष में खुलकर विद्रोह किया था लेकिन कलकत्ता के सम्मेलन में इसे नष्ट करने का काम हिन्दू महासभा ने किया । मैं यह कहने के लिये विवश हूँ कि जयकर के भाषण और पं० मालवीय तथा डा० मुंजे के दृष्टिकोण और हिन्दू महासभा के मित्रों के कारण एकता की सभी संभावनायें नष्ट हो गयी ।"[33]

डॉ० अंसारी के मूल्यांकन को स्वीकारने अथवा अस्वीकारने के पक्ष और विपक्ष में तर्क तो दिये ही जा सकते हैं । लेकिन नेहरू-प्रतिवेदन के प्रकाशन के उपरान्त लगातार यह स्पष्ट होता गया कि हिन्दू और मुसलमान संप्रदायों के प्रतिनिधियों ने इस प्रतिवेदन रिपोर्ट को लेकर अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाया । विशेष रूप से मुस्लिम -लीग और मुस्लिम नेताओं ने लचीला दृष्टिकोण नहीं अपनाया । कांग्रेस का दृष्टिकोण और मुस्लिम -लीग का दृष्टिकोण अलग-अलग दिखाई दिया । इस प्रकार से जब सर्वदलीय

सम्मेलन असफल हो गया तो नेहरू -प्रतिवेदन भी असफल हो गया । इस प्रतिवेदन का यही महत्व हो सकता था कि सभी राजनीतिक दल भावी संविधान के प्रारूप को निश्चित कर सकते थे और यह दावा कर सकते थे कि कुछ मूल सिद्धान्तों पर वे एकमत थे । जब ऐसा नहीं हो सकता तो कांग्रेस द्वारा उठाया गया यह महत्वपूर्ण प्रयास असफल हो गया । नेहरू- प्रतिवेदन की चर्चा से और इससे उठे विवादों से यह भी प्रकट हो गया कि मुस्लिम लीग और अन्य मुस्लिम नेता अपने अधिकारों, विधान सभाओं में अपने प्रतिनिधित्व, मुस्लिम बहुल प्रान्तों के निर्माण, प्रान्तीय सरकारों के अधिकारों तथा केन्द्र की शक्ति के विषय में अलग विचार रखते थे । इसी समय मो0 अली जिन्ना ने टिप्पणी की थी "हमारे रास्ते अब अलग-अलग हो गये है."[34] एक प्रकार से कांग्रेस की यह संवैधानिक पहल भविष्य की ओर संकेत कर रही थी और चेतावनी दे रही थी कि कोई भी राजनीतिक अथवा संवैधानिक समझौता करने के लिये भारत के राजनीतिक दलों का एकमत होना पर्याप्त कठिन था ।

कांग्रेस द्वारा स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित करना -

नेहरू-प्रतिवेदन ने औपनिवेशिक स्वराज का लक्ष्य निर्धारित किया था पूर्ण स्वतंत्रता का नहीं । इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि नेहरू-प्रतिवेदन के तैयार करने तक कांग्रेस ऐसा लक्ष्य निर्धारित कर रही थी कि जो सभी राजनीतिक दलों को मान्य हो तथा जिसे सरकार भी स्वीकार कर सके । परन्तु उसके इस सुझाव से कांग्रेस के युवावर्ग और अन्य लोग सहमत नहीं थे । इसकी पहली ध्वनि 1928 के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में दिखाई दी । कलकत्ता में आयोजित इस सम्मेलन में कांग्रेस के लक्ष्य के विषय में पर्याप्त विवाद उठा । कांग्रेस का एक वर्ग चाहता था कि

इसी समय पूर्ण स्वराज की घोषणा कर दी जाय । स्वयं जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इस समय का विवरण दिया है । उन्होंने लिखा है कि जब अधिवेशन में लक्ष्य के विषय में कोई समझौता होता हुआ दिखाई नहीं दिया तो मोतीलाल नेहरू उत्तेजित हो उठे । युवा जवाहरलाल नेहरू और उनके पिता दो अलग-अलग विचारधाराओं और दो अलग-अलग पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जबकि मोतीलाल नेहरू औपनिवेशिक स्वराज को पर्याप्त समझते थे, जवाहरलाल नेहरू स्वतंत्रता के पक्षधर थे । जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि " न तो इस समय के पूर्व और न इस समय के पश्चात कभी हम दोनों में इतना तनाव आया जितनी तनावपूर्ण स्थिति अधिवेशन आरम्भ होने के समय थी ।"[35]

अधिवेशन के समय तक की राजनीति किस सीमा तक जटिल हो चुकी थी और मोतीलाल को किस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था, इसका मूल्यांकन गांधी जी के शब्दों में इस प्रकार था :

"मैं देख रहा हूँ कि प्रतिवेदन में मुसलमान मित्रों के विषय में तुम्हारी समस्याओं का कोई अंत नहीं है । परन्तु तुम इन गुत्थियों को बड़ी सूझ-बूझ तथा धैर्य से सुलझा रहे हो । मैं आशा करता हूँ कि तुम्हे पूर्ण सफलता मिले------ साबरमती में हमारी आपकी जो बातचीत हुयी, उससे मेरी समझ में यह आ गया कि तुम मुझे कांग्रेस अधिवेशन के लिये चाहते हो, कन्वेशन के लिये नहीं । मेरी समझ में यह नहीं आ रहा कि मैं कन्वेशन के लिये क्या सेवा कर सकता हूँ ? मेरा मस्तिष्क उलझनों से भरा हुआ है, मैं देश में चारों ओर बहुरूपदर्शी दृश्यों को देख रहा हूँ, मैं केवल यही कह सकता हूँ कि मुझे तुम्हारी स्थिति से कोई ईष्या नहीं हो रही, परन्तु मैं जानता हूँ कि तुम इसमें भी उतने निपुण हो जितना मैं चरखे में और अगर तुम्हें यह स्वीकार होता तो मैं इसी चरखे के निकट बैठकर संतुष्ट

रहता और तुम्हें कूटनीति के टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर चलने को छोड़ देता । मेरा भाग्य तुम्हारे हाथों में है और निर्णय भी तुम्हें ही करना है ।"[36]

अन्त में गांधी जी के हस्तक्षेप से एक बीच का मार्ग निकालने का निर्णय किया गया । कलकत्ता अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज का लक्ष्य निर्धारित किया गया परन्तु इस शर्त के साथ कि अगर एक वर्ष में ब्रिटिश सरकार इस ओर कोई गम्भीर प्रयास नहीं करती तो आगामी वर्ष के समाप्त होते-होते कांग्रेस पूर्ण स्वराज का लक्ष्य घोषित कर देगी ।[37]

कांग्रेस के लक्ष्य का प्रश्न और औपनिवेशिक स्वराज अथवा पूर्ण स्वतन्त्रता के आदर्श को अपनाने का सवाल संवैधानिक संरचना से जुड़ा हुआ था । कांग्रेस को यह निश्चित करना था कि संविधान का कैसा स्वरूप हो, संविधान का अन्तिम लक्ष्य क्या हो ? यदि नेहरू प्रतिवेदन के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज को प्राप्त करना था तो इसका अर्थ था - ब्रिटिश सरकार के अधीन रहकर निश्चित सीमाओं में भारतीय संविधान का संचालन । स्वाभाविक रूप से सम्पूर्ण संवैधानिक प्रणाली इसी लक्ष्य के प्राप्त करने के उद्देश्य से बनायी गयी थी । इसके विपरीत जब स्वतन्त्रता के पक्ष में आवाज उठाई गयी तथा 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने यह लक्ष्य घोषित भी कर दिया तो फिर सम्पूर्ण संवैधानिक योजना के आधार ही परिवर्तित हो गये ।

1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पारित किया कि " यह कांग्रेस यह घोषणा करती है कि संविधान के पहले अनुच्छेद में परिभाषित लक्ष्य को स्वराज के स्थान पर पूर्ण स्वतन्त्रता कर दिया जाय।"

इसी समय कांग्रेस ने यह भी घोषित किया कि नेहरू -समिति की सम्पूर्ण योजना को समाप्त मान लिया जाय।[38] प्रश्न यह उठता है कि स्वतंत्रता के लक्ष्य की घोषणा के साथ-साथ नेहरू-प्रतिवेदन को औपचारिक रूप से समाप्त करने की घोषणा क्योंकिगयी ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि कांग्रेस ने नेहरू-प्रतिवेदन में वर्णित औपनिवेशिक स्वराज के लक्ष्य को जब निरस्त कर दिया तो फिर एक प्रकार से सम्पूर्ण योजना का आधार ही समाप्त हो गया ।

लाहौर अधिवेशन द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा का अर्थ यह भी हुआ कि भविष्य में कांग्रेस द्वारा बनाई गयी संवैधानिक घोषणा का मूलाधार स्वतंत्रता प्राप्ति ही हो सकता था । कम से कम कांग्रेस का एक बड़ा वर्ग ब्रिटिश सरकार से इसी मूलभावना के द्वारा बातचीत करने को तैयार था । इस लाहौर घोषणा से राष्ट्रीय संघर्ष के द्वार भी खुले । कुछ महीनों बाद मार्च, 1930 से भारत में सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय और उसके पश्चात् कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच की दूरी बढ़ती गयी । बदले हुये राजनीतिक वातावरण में ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक प्रक्रिया को नया रूप देने के प्रयास जारी रखे परन्तु फिर भी एक बड़ा अन्तर स्वतन्त्रता की घोषणा के परिणाम स्वरूप आया जो कांग्रेस लगातार ब्रिटिश सरकार की ओर मुँह ताकती हुयी संवैधानिक परिवर्तन की आशा कर रही थी, उसने अब अधिक व्यापक पैमाने पर संघर्ष करके संवैधानिक परिवर्तन लाने पर निरंतर जोर दिया ।

-

सन्दर्भ

1. ए.एम. जैदी और एस.जी.जैदी (सं0) दि एन साँइक्लोपीडिया आफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खंड,आठ, पृष्ठ 124-135.
2. बी.बी. मिश्रा, दि इण्डियन पोलिटिकल पार्टीज, दिल्ली, 1976, पृष्ठ 246.
3. ए.एम. जैदी, ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, (दिल्ली, 1985).
4. के.एम. पनिक्कर एण्ड ए. प्रसाद (सं0), दि वॉइस ऑफ कांग्रेस, पृष्ठ 505.
5. ए.आई.सी.सी. फाइल सं0 41।928.
6. होम (स्पेशल) प्रोसीडिंग्स, फाइल सं0 70/1/1927.
7. रीडिंग का पत्र ओलीवर के नाम, 21 फरवरी 1924, रीडिंग पेपर्स.
8. ए.सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द तीन, (दिल्ली, 1978). पृष्ठ 53.
9. एन.एन. मित्रा, दि इण्डियन ऐन्युअल रजिस्टर, 1924, जिल्द एक, पृष्ठ 256.
10. वही.
11. लेजिस्लेटिव असेम्बली डिबेट्स, जिल्द चार, भाग एक, पृष्ठ 368.
12. ए.एम. जैदी एण्ड एस.जी. जैदी (सं0), दि ऐनसाँइक्लोपीडिया ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खण्ड आठ, (नयी दिल्ली, 1989), पृष्ठ 118-120.
13. ए.आई.सी.सी.पेपर्स, फाइल सं0 8/1924.
14. ए.सी.बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 70.

15. आर. कूपलैण्ड, दि इण्डियन प्रॉब्लम, (लन्दन, 1968), पृष्ठ 51.

16. ए. आई. सी. सी. पेपर्स, सप्लीमेन्टरी फाइल्स, सं0 42/1927.

17. वही, पृष्ठ 96.

18. ए. एम. जैदी ऐण्ड एस. जी. जैदी (सं.), दि ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खण्ड तीन, पृष्ठ 303.

19. एस. श्रीनिवास अयंगर, स्वराज कांस्टीट्यूशन, (मद्रास, 1927), पृष्ठ 1-16.

20. ए. सी. बनर्जी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 69-73.

21. ए. एम. जैदी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 144-145, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, 1927 का प्रस्ताव.

22. वही, पृष्ठ 147-148, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, 1928 का प्रस्ताव.

23. इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर, 1927, खंड एक, पृष्ठ 37.

24. वहीं, पृष्ठ 105.

25. ए. सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग दो, पृष्ठ 453.

26. ऑल पार्टीज कान्फ्रेन्स रिपोर्ट, पृष्ठ 3.

27. ए. सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग दो, पृष्ठ 453.

28. ऑल पार्टीज कान्फेन्स रिपोर्ट, पृष्ठ 36.

29. वही, पृष्ठ 52.

30. गांधी जी का वक्तव्य 16 अगस्त 1928, गांधी वांग्मय, पृष्ठ 180-181.

31. मुसरुल हसन, नैशनलिज्म एण्ड कॉम्युनल पॉलिटिक्स इन इंडिया, (दिल्ली, 1979), पृष्ठ 297.

32. इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर, 1928, खण्ड दो, पृष्ठ 405-407.

33. मुशीरुल हसन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 300.

34. मुशीरुल हसन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 305.

35. जवाहरलाल नेहरू, ऐन ऑटोबायोग्राफी, पृष्ठ 184.

36. गांधी जी का पत्र मोतीलाल के नाम, 28 नवम्बर 1928, गांधी वांगमय, खण्ड 38, पृष्ठ 107.

37. गांधी वांगमय, खंड 38, पृष्ठ 205.

38. ए.एम. जैदी, ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, पृ

—

पंचम अध्याय

गोलमेज सम्मेलन और 1935 के अधिनियम के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण

- लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन.
- कराची कांग्रेस के निर्णय.
- दूसरा गोलमेज सम्मेलन.
- 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय का गांधी जी द्वारा विरोध और पूना समझौता.
- 1934 का श्वेतपत्र और कांग्रेस.
- केन्द्रीय विधानसभा के निर्वाचन में कांग्रेस का सम्मिलित होना.
- ब्रिटिश संसद द्वारा 1935 के अधिनियम की स्वीकृति.
- 1935 का अधिनियम और कांग्रेस की नीति.

सविनय अवज्ञा आन्दोलन 1930 से आरम्भ होकर 1934 तक चलता रहा । यह कांग्रेस द्वारा आरम्भ किया गया एक व्यापक आन्दोलनात्मक संघर्ष था और इसका उद्देश्य था- पूर्ण स्वराज्य या पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त करना । परन्तु इस आन्दोलन के समय भी कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से संवैधानिक वार्ता का क्रम चलाये रखा जो इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आन्दोलन करने के अतिरिक्त संवैधानिक सुधारों और परिवर्तनों के पक्ष में भी कांग्रेस का विश्वास बना रहा । कांग्रेस का नेतृत्व यह भली प्रकार से जानता था कि चाहे उसने स्वतन्त्रता का लक्ष्य निर्धारित कर दिया हो फिर भी राजनीतिक वार्ता में उससे कुछ कम का सौदा भी ब्रिटिश सरकार से किया जा सकता था । यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि कांग्रेस की नीतियों को निर्धारित करने में उसके शीर्षस्थ नेताओं में अलग-अलग दृष्टिकोण बने रहे । गाँधी जी का दृष्टिकोण लगातार समझौतावादी था, मालवीय आदि दक्षिणपंथी कांग्रेसी नेता ब्रिटिश सरकार से बातचीत के पक्ष में थे । लेकिन जवाहर-लाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस आदि वामपंथी विचार रखने वाले कांग्रेस के युवा नेताओं का ऐसा विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार से बातचीत करके किसी भावी संवैधानिक समझौते पर नहीं पहुँचा जा सकता था । ऐसी अलग-अलग राजनीतिक विचारधारायें होते हुये भी आवश्यकता पड़ने पर कांग्रेस के प्रमुख नेता समय-समय पर बीच का रास्ता निकाल लेते थे ।

जहाँ एक ओर ब्रिटिश सरकार और दूसरी ओर कांग्रेस देश के भावी संविधान पर वार्ता करने को तत्पर थी वहीं कुछ अन्य राजनीतिक दल तथा

शक्तियों ने भी देश के भावी संविधान के स्वरूप के निर्धारण में भूमिका निभायी । ये राजनीतिक शक्तियाँ समय-समय पर और भी शक्तिशाली होती गयी, क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने गोलमेज सम्मेलन के समय और उसके बाद भी कांग्रेस की शक्ति को कम करने के लिये कांग्रेस के समानान्तर अन्य राजनीतिक शक्तियों को बढ़ावा दिया । इस प्रकार जानते हुये भी ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लींग के प्रतिनिधियों और अनुसूचित जाति के प्रतिनिधियों तथा देशी रियासतों के राजा महाराजाओं को अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया ।

मई 1930 को साइमन-कमीशन की रिपोर्ट ऐसे समय ब्रिटिश सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की गयी जब भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन तीव्रता से चल रहा था और कोई भी इस कमीशन की रिपोर्ट पर ध्यान देने को तैयार नहीं था । इसके अतिरिक्त स्वयम् वायसराय ने भी स्वीकार किया कि इस रिपोर्ट की संस्तुतियाँ निराशाजनक थी । वायसराय ने लिखा कि "औपनिवेशिक स्थिति के वर्णन करने से मना कर देने की स्थिति से यहाँ पर विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।"[1]

लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन

साइमन कमीशन की रिपोर्ट और इसके प्रस्तावों पर व्यापक बातचीत करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने नवम्बर-1930 में एक गोलमेज

सम्मेलन बुलाया । मई 1930 में भारत में वायसराय ने घोषित किया कि ऐसा सम्मेलन लन्दन में आयोजित करने का निर्णय लिया गया । यह एक नयी प्रक्रिया थी, क्योंकि इसके पहले जितने भी अधिनियम पारित किये गये थे, उनके पक्ष में भारतीयों से राय नहीं ली गयी थी । इस बार पहले तो कमीशन ने भारत का भ्रमण किया तथा भावी संविधान के विषय में राय इकट्ठा की और इसके बाद लन्दन में चुने हुये प्रतिनिधियों को बुलाकर भविष्य में पारित किये जाने वाले अधिनियम के विषय में विचार विमर्श करने की घोषणा की गयी । भारतीयों के रूझान को आन्दोलन से हटाकर संवैधानिक वार्ता की ओर करने का एक प्रयास था । ऐसी स्थिति में पहले गोलमेज सम्मेलन के बुलाने की घोषणा से न तो कांग्रेस उत्साहित हुयी और न इसके समर्थक । साइमन कमीशन की रिपोर्ट और गोलमेज सम्मेलन की घोषणा एक ऐसे राजनीतिक वातावरण में की गयी थी, जबकि किसी को भी इसके परिणाम से आशायें नहीं थी । इसे ध्यान में रखकर उदारवादी नेताओं तेजबहादुर सप्रू और एम:आर॰ जयकर ने तुरन्त तत्कालीन वायसराय से सम्पर्क किया और कहा कि "यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण होगा, यदि इसी समय से गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने के कोई भी प्रयास न किये गये" ।[2] इन उदारवादी नेताओं ने तुरन्त ही मध्यस्थ की भूमिका निभाते हुये गाँधी और नेहरू से उन कारागारों में भेंट की जहाँ वे उस समय बन्दी थे ।

सप्रू और जयकर ने जब गाँधी से बातचीत की तो उनका रूख नरम दिखाई दिया क्योंकि गाँधी इस शर्त के साथ सम्मेलन में भाग लेने को तैयार हो सकते थे, यदि पूर्ण स्वशासन की माँग को स्वीकारने को ब्रिटिश सरकार तैयार हो । परन्तु इसी समय गाँधी जी ने एक और शर्त लगायी । शर्त यह थी कि गोलमेज सम्मेलन के विषय में अन्तिम निर्णय जवाहरलाल नेहरू के साथ सम्पर्क करने पर ही किया जायेगा । इससे यह स्पष्ट दिखाई दिया कि गाँधी को नेहरू के विरोध का पर्याप्त अनुमान था ।[3]

जब जयकर और सप्रू नेहरू से मिलने गये तो उन्हें तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि जवाहरलाल नेहरू को गोलमेज सम्मेलन से किसी भी अच्छे परिणाम की आशा नहीं थी । बाद में जवाहरलाल नेहरू ने इस भेंट का वर्णन किया है । उन्होंने लिखा " हमने बातचीत कीऔर बहस की जैसे किसी चक्रव्यूह में फँसे हो क्योंकि हमारे बीच राजनीतिक दृष्टिकोण में इतना अधिक अन्तर था कि हम एक दूसरे की भाषा तथा विचारों को नहीं समझ पाये । यह स्पष्ट था कि कांग्रेस और सरकार के बीच में शान्ति की कोई भी आशा नहीं थी ।[4]

उदारवादियों के मध्यस्तता के प्रयासों से कोई भी परिणाम नहीं निकला और अगस्त-1930 तक यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस पहले गोजमेज सम्मेलन में भाग लेने को तैयार नहीं थी तथा यह सम्मेलन बिना इसके प्रतिनिधित्व के ही हुआ । कांग्रेस ने इस प्रथम गोलमेज सम्मेलन

का बहिष्कार करके अपने कठोर दृष्टिकोण का परिचय दिया ।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन 12 नवम्बर-1930 को आरम्भ हुआ तथा लगभग दो महीने तक चला । इसमें 89 सदस्य थे, जो सभी ब्रिटिश सरकार द्वारा मनोनीत किये गये थे । इसमें 16 सदस्य ब्रिटिश राजनीतिक दलों के तथा 16 प्रतिनिधि देशी रियासतों के और 57 सदस्य भारत के अलग-अलग राजनीतिक दलों, समुदायों आदि का प्रतिनिधित्व कर रहे थे । इस सम्मेलन के बहस के समय लगातार भारतीय सदस्यों ने कांग्रेस की अनुपस्थिति की आलोचना की और यह ध्यान दिलाया कि कांग्रेस के सहयोग के बिना किसी भी प्रकार की संवैधानिक वार्ता निरर्थक हो सकती थी ।

इस सम्मेलन में तीन विचार हुये । पहला भारत में संघीय शासन व्यवस्था पर विचार, दूसरा केन्द्र की स्थिति पर तथा तीसरा किसी भी संवैधानिक योजना में देशी रियासतों के राजा महाराजाओं को अधिक से अधिक अवसर प्रदान करना ।

कांग्रेस ने जनवरी-1931 में अपने विरोध को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया । एक प्रस्ताव में 1931 में उसने कहा कि " वह किसी भी तथाकथित गोलमेज सम्मेलन के निर्णयों को स्वीकारने को तैयार नहीं थी, क्योंकि सरकार ने इसमें ऐसे सदस्य नियुक्त किये थे जो उसके पिट्ठू थे । ये सदस्य चुने हुये नहीं थे और इसीलिये इन्हें भारतीयों का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता ।[5]

करांची कांग्रेस के निर्णय

प्रथम गोलमेज सम्मेलन कीअसफलता के बाद कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता प्रस्ताव तीव्र कर दिये गये जिसकी परिणति मार्च 1931 के गांधी-इरविन समझौते से हुई । लगभग एक वर्ष से चल रहा सविनय अवज्ञा आन्दोलन इस समझौते के अनुसार स्थगित कर दिया गया और यह निर्णय किया गया कि भावी संवैधानिक सम्मेलन में कांग्रेस भाग लेने के निर्णय पर पुनर्विचार करेगी । इससे यह स्पष्ट हुआ कि कांग्रेस और सरकार दोनों ने संवैधानिक वार्ता में कांग्रेस के महत्व को समझा । इससे यह भी प्रकट हुआ कि गांधी जी सरकार के साथ किसी न किसी प्रकार के राजनीतिक वार्ता के लिये तैयार थे । एक प्रकार से 1922 की स्थिति पुनः लौट रही थी और गांधी जी के दृष्टिकोण से जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस को धक्का लगा । परिणाम स्वरूप गांधी जी को अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी और उन्होंने कहा कि गोलमेज सम्मेलन में भाग लेकर कांग्रेस देश में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास की गति तीव्र करेगी ।

मार्च 1931 में गांधी इरविन समझौते के बाद करांची अधिवेशन में देश के भावी संविधान के पक्ष में गम्भीर बहस हुयी । यह एक ऐसा अवसर था, जब सभी राजनीतिक विचारों के कांग्रेसी नेताओं ने अपने-अपने पक्ष प्रस्तुत किये । मूल राजनीतिक प्रस्ताव में पूर्ण स्वराज के लक्ष्य को दोहराया गया और भविष्य में होने वाले सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को

निर्देश दिये गये कि यदि वे इसमें भाग ले तो इस उद्देश्य को प्राप्त करने में पूरा ध्यान दे और यह भी सुनिश्चित करें कि इस राष्ट्र को रक्षा, बित्त और आर्थिक निर्णय करने के पूरे अधिकार हो । इसी के साथ-साथ कांग्रेस के प्रतिनिधियों को यह भी निर्देश दिये गये कि वे भविष्य में भारत के आर्थिक दायित्वों के विषय में निर्णय करें ।[6] इस कराची कांग्रेस का राजनीतिक प्रस्ताव पर्याप्त अस्पष्ट था तथा इससे यह भी दिखाई दिया कि जो कांग्रेसी नेता कराची में एकत्रित थे, उन्होंने या तो आने वाली अड़चनों को अनदेखा किया अथवा राजनीतिक उद्देश्यों को पूर्ण रूप से परिभाषित नहीं किया ।[7]

कराची कांग्रेस अधिवेशन इस कारण भी याद किया जाता है कि इसी समय कांग्रेस ने सर्वप्रथम मौलिक अधिकारों की चर्चा की और यह भी निर्णय किया कि राजनीतिक उद्देश्यों के अतिरिक्त भावी संवैधानिक व्यवस्था में निहित आर्थिक लक्ष्यों को भी परिभाषित किया जाय ।उसने एक प्रस्ताव में कहा: "जनता के शोषण को समाप्त करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता पर भी विचार किया जाय ।" इस लक्ष्य को प्राप्त करनेके लिये कांग्रेस ने 17 सूत्रीय योजना को जनसाधारण की भलाई के लिये किसी भी भावी संविधान में सम्मिलित करने की सिफारिश की । यह मौलिक अधिकारों को परिभाषित करने का पहला प्रयास था, जिसमें देश के श्रमिकों, किसानों, महिलाओं,

बच्चों आदि के हितों को सुरक्षित रखने के प्रस्ताव किये गये । मजदूर और किसानों को संगठित होने के अधिकार देने की माँग की गयी । भूमि सुधारों की आवश्यकता बताई गयी । सैनिक खर्चों को कम करने का सुझाव दिया गया । शराब बन्दी का सुझाव दिया गया और कृषि ऋणों से होने वाली क्षति की चर्चा की गयी । स्पष्ट है कि कांग्रेस के इतिहास में सर्वप्रथम यह स्वीकार किया गया कि कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता उस समय तक निरर्थक होगी जब तक उपेक्षित और निराश्रित निर्धन लोगों के हितों का बीड़ा उठाने का निर्णय कांग्रेस न करें । कांग्रेस ने कराची प्रस्ताव में भावी संवैधानिक व्यवस्था में आर्थिक पक्षों को परिभाषित करने की ओर ध्यान दिया ।[8]

कराची कांग्रेस ने भावी संवैधानिक प्रक्रिया के लिये एक और महत्वपूर्ण निर्णय लिया । आगामी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के पक्ष में इसी अधिवेशन में निर्णय किया गया । यह एक विवादास्पद निर्णय था क्योंकि गोलमेज सम्मेलन से किसी को बहुत अधिक आशाये नहीं थी । कराची कांग्रेस ने यह भी निर्णय लिया कि कांग्रेस की ओर से केवल गाँधी जी को इस संगठन का एक मात्र प्रतिनिधि बनाकर भेजा जाय । अगर कांग्रेस चाहती तो भारत सरकार बीस कांग्रेसी प्रतिनिधियों को आगामी सम्मेलन में भाग लेने के लिए भेजने को तैयार थी । लेकिन ऐसा न करके कांग्रेस ने केवल गाँधी जी को ही अपना अधिकृत प्रतिनिधि मनोनीत किया । इसके

दूरगामी परिणाम हुये क्योंकि अगर एक बड़ा प्रतिनिधि मण्डल गाँधी जी के सहायक के रूप में जाता तो वह अनेक पेचीदे मसलों पर गाँधी जी की सहायता कर सकता था । कराची कांग्रेस ने यह भी निश्चय किया कि गाँधी जी को यह अधिकार दिया जाय कि वे आगामी गोलमेज में अधिवेशन के निर्णयों के अनुसार ही कांग्रेस का पक्ष प्रस्तुत करें ।

दूसरा गोलमेज सम्मेलन

दूसरा गोलमेज सम्मेलन सात सितम्बर-1931 से आरम्भ होकर लगभग तीन महीने तक चला । यह एक मात्र सम्मेलन था, जिसमें कांग्रेस ने भाग लिया था । अतः यह उचित ही होगा कि यह विचार किया जाय कि कांग्रेस की आशायें इस सम्मेलन के बारे में क्या थीं और गाँधी जी किन आशाओं से सम्मेलन में भाग लेने गये थे ? विचार यह नहीं था कि किसी संविधान का प्रारूप तैयार होगा बल्कि आशा यह थी कि किसी प्रकार की सन्धि की शर्तें तय होगी ।[9] कांग्रेस को यह भलीभाँति विदित था कि ब्रिटिश सरकार उससे सीधी बातचीत नहीं कर रही थी । कांग्रेस से ब्रिटिश सरकार की वार्तायें एक ऐसे सम्मेलन में होने जा रही थी, जिसके अलग-अलग प्रतिनिधि अलग-अलग समुदायों, समूहों, हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे । गाँधी जी ने सम्मेलन में पहुँचकर अनुभव किया कि ऐसे मिश्रित गोलमेज सम्मेलन में एकरूपता लाना पर्याप्त कठिन कार्य था ।

इसी बीच ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण में एक और कारण से परिवर्तन आया । अगस्त 1932 को श्रमिक दल के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे

दिया था और तुरन्त बाद एक राष्ट्रीय सरकार गठित की गयी जिसमें अनुदार दल का बहुमत था । रैम्जे मैक्डोनाल्ड प्रधान मन्त्री तो अवश्य बने रहे लेकिन उनके सहयोगी अनुदार दल के थे और भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था अपनायें जाने के पक्षधर नहीं थे । उदाहरण के लिये भारत सचिव सैम्युअल होर कांग्रेस की भूमिका को स्वीकारने के पक्ष में नहीं था । ब्रिटिश सरकार के इस बदलते स्वरूप के कारण भी गोलमेज सम्मेलन की सफलता संदिग्ध हो गयी ।

गाँधी जी ने अपने तीस नवम्बर के भाषण में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के सम्मुख कांग्रेस का पक्ष प्रस्तुत किया । उनका यह भाषण कांग्रेस के भाग लेने के लक्ष्यों को परिभाषित कर रहा था । गाँधी जी ने दावा किया कि कांग्रेस भारतीय जनता के 85 प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व करती थी । वह हर प्रकार के हितों को ध्यान में रख रही थी । वह किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिकता के स्वरूप की विरोधी थी । गाँधी जी ने इसी भाषण में यह भी कहा कि कांग्रेस राजनीतिक मामलों में समझौते को तैयार थी, यदि भारत को " वास्तविक स्वतन्त्रता" दी जाय "बनावटी स्वतन्त्रता नहीं" । गाँधी जी ने सम्मेलन को यह भी बताया कि वे इग्लैण्ड और भारत के रिश्तों को समाप्त नहीं करना चाहते थे । लेकिन इन रिश्तों के स्वरूप को बदलना अवश्य चाहते थे । बदले जाने वाले स्वरूप को स्पष्ट करते हुये उनका कहना था " कि परतन्त्रता को स्वतन्त्रता में बदलना होगा"।

साम्प्रदायिक समस्या को उन्होंने विदेशी सत्ता की देन बताया और कहा कि विदेशी सत्ता के समाप्त होते ही साम्प्रदायिक समस्या समाप्त हो जायेगी ।[10] यह उचित ही कहा गया है कि यह एक अकेली आवाज थी जिसे सबने ध्यान से सुना लेकिन जिसका समर्थन करने को कोई भी तैयार नहीं था । गाँधी जी ने अपने भाषण में ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों को "ऐसे दो बराबर वालों का सम्बन्ध बताया था जो साथ-साथ रह सकते थे" स्पष्ट है कि गाँधी जी औपनिवेशिक स्वराज की बात कर रहे थे, लेकिन उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया।[11] द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के समय गाँधी जी के सम्मुख लगातार कठिनाइयाँ आती गयी और उन्हें शीघ्र ही पता चल गया कि गोलमेज सम्मेलन के सदस्य उनके लिये तरह-तरह की बाधायें उपस्थित करने को तैयार थे और ब्रिटिश सरकार ने जानबूझकर ऐसे लोगों को सम्मेलन में बुलाया था जो गाँधी जी की आवाज को सुनने को तैयार नहीं थे । अल्प संख्यकों का मसला और साम्प्रदायिक समस्या का प्रश्न सम्मेलन में छाया रहा । मुस्लिम प्रतिनिधि इस बात पर अड़े रहे कि किन्हीं संवैधानिक प्रश्नों पर विचार करने के पूर्व साम्प्रदायिक समस्या सुलझा ली जाय । दूसरे शब्दों में उनका तर्क यह था कि संवैधानिक समस्या पर विचार तभी हो सकता था जब साम्प्रदायिक समस्या का समाधान हो जाय । गाँधी जी ने नेहरू प्रतिवेदन पर आधारित समझौता प्रस्ताव

प्रस्तुत किया लेकिन इसे सम्मेलन ने अस्वीकार कर दिया । इसी प्रकार अनुसूचित जातियों का प्रश्न भी सुलझ नहीं सका और डॉ॰ अम्बेडकर अपनी माँगों पर अड़े रहे ।अलग-अलग समितियाँ साम्प्रदायिक प्रश्नों, अल्प संख्यकों के प्रश्नों, चुनाव प्रणाली, भावी संघीय व्यवस्था आदि पर विचार करती रही लेकिन कोई समाधान नहीं निकल सका और न ब्रिटिश सरकार के प्रधानमंत्री और न उनके सहयोगियों ने द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में उपजे मत-भेदों को कम करने के कोई प्रयास किये ।[12]

इन परिस्थितियों में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन बिना किसी निर्णय पर पहुँचे हुये ही ग्यारह दिसम्बर उन्नीस सौ एकतीस को समाप्त हो गया । गाँधी जी खाली हाथ अट्ठाइस दिसम्बर उन्नीस सौ एकतीस को स्वदेश वापस आये । एक बार फिर यह स्पष्ट हो गया था कि संवैधानिक प्रश्नों का समाधान का प्रश्न साम्प्रदायिक समस्या से जोड़कर और अल्प संख्यकों के प्रश्न से जोड़कर ब्रिटिश सरकार तरह-तरह की बाधायें प्रस्तुत कर रही थी । यह भविष्य की ओर संकेत था । अन्त में यह विचारना होगा कि द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शामिल होकर क्या कांग्रेस ने अथवा गाँधी जी ने कोई गलती की ? क्या सम्मेलन के पहले बहुत अधिक आशा का वातावरण बन गया था ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि आरम्भ से ही किसी को दूसरे गोलमेज सम्मेलन से बहुत अधिक आशायें नहीं थीऔर गाँधी जी ने लन्दन जाने से पहले ही कहा था कि वे खाली हाथ भी आ

सकते थे । [13] इससे यह पर्याप्त संकेत मिल जाता है कि गाँधी जी को आने वाली बाधाओं का अनुमान था । तो फिर क्या गाँधी जी को और कांग्रेस को सम्मेलन में भाग लेने से मना कर देना चाहिए था । कम से कम सुभाष चन्द्र बोस ने तो यही मत व्यक्त किया है । उनका कथन है कि "1930 के अनुपस्थित गाँधी 1931 के उपस्थित गाँधी से कहीं अधिक प्रभावशाली थे " ।[14] सुभाष चन्द्र बोस के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी गाँधी जी की राजनीतिक सूझबूझ पर प्रश्न चिन्ह लगाया है ।एक आधुनिक लेखक का कथन है कि गाँधी जी की राजनीतिक शैली कमजोर थी जिस ढंग से उन्होंने अपना पक्ष प्रस्तुत किया, वह किसी को प्रभावित नहीं कर सका । उन्होंने सम्मेलन में दावपेंच को समझने वाले व्यक्ति का परिचय नहीं दिया ।[15] एक अन्य लेखक ने भी गाँधी जी के नरम रूख की आलोचना की है । उन्होंने गाँधी जी के कथन का एक उदाहरण दिया है, जिसमें गाँधी जी ने सम्मेलन के समय कहा था ।" भगवान के लिये, बासठ वर्ष के एक कमजोर आदमी को अपना तथा कांग्रेस का पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दीजिये "। इस लेखक का कहना है कि दूसरा गोलमेज सम्मेलन किसी सन्त की आवाज को सुनने को तैयार नहीं था, क्योंकि यहाँ पर घिसेपिटे दिग्गज राजनीतिज्ञ अपनी अपनी बातो पर डटे हुये दिखाई दिये और वे भी ऐसे वातावरण में अपनी बात कह रहे थे , जिसे ब्रिटिश सरकार ने जानबूझ कर बनाया था ।[16]

1932 के साम्प्रदायिक निर्णय का गाँधी जी द्वारा विरोध और पूना समझौता

गोलमेज सम्मेलनों में ब्रिटिश उद्देश्यों का पता उस समय चला जब तीसरे गोलमेज सम्मेलन के तुरन्त बाद ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने अगस्त 1932 में एक घोषणा करके भारतीय राजनीति में एक संकट की स्थिति पैदा कर दी। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की प्रधानमन्त्री की घोषणा को साम्प्रदायिक निर्णय कहा जाता है। इसके अनुसार यह निर्णय इस सिद्धान्त पर आधारित था कि भारत एक राष्ट्र नहीं अपितु अनेक वर्गों का समूह था। ये वर्ग धार्मिक, सांस्कृतिक, जातीय हितों और वर्गों पर आधारित थे। प्रधानमंत्री की घोषणा में ग्यारह अल्पसंख्यकों को स्वीकार किया गया। ये थे- मुसलमान, दलित वर्ग, पिछड़ी जातियाँ, ईसाई, एग्लोंइण्डियन, यूरोपीय, व्यापारिक, भूमिपति, श्रमिक, विश्वविद्यालय तथा सिक्ख।[17] इस लम्बी सूची से यह प्रकट हो जाता है कि ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय एकता के स्थान पर राष्ट्रीय बिखराव को बढ़ावा देने पर तुली हुयी थी। तभी तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अनेक सम्प्रदायों, जातिसमूहों, वर्गों, हितों के अलग-अलग प्रतिनिधियों को प्रतिनिधित्व देने की घोषणा तीसरे गोलमेज सम्मेलन के तुरन्त बाद कर दी। इस घोषणा में यह कहा गया कि दलित वर्गों को अलग प्रतिनिधित्व का अधिकार देने की व्यवस्था होगी। इस प्रकार दलित वर्गों को दोहरा मतदान करने का अधिकार देने की व्यवस्था की गयी।

एक दलित वर्ग के रूप में अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार जिसके अनुसार विधान-सभाओं में दलित वर्ग का प्रतिनिधि चुनने का विशेषाधिकार केवल दलित वर्गों को ही होना था । इसे पृथक प्रतिनिधित्व कहा गया । दूसरे प्रकार के मतदान में दलित वर्ग सामान्य सीटों के लिये भी मतदान कर सकते थे । प्रधानमंत्री की घोषणा के अनुसार भविष्य में दो प्रकार की विधान सभायी सीटे हो सकती थी - एक आरक्षित और दूसरी गैर-आरक्षित । अलग-अलग सम्प्रदायों और वर्गों के लिये आरक्षित सीटों का प्रावधान करते हुये दलित वर्गों की सीटों को सुरक्षित करने का प्रावधान किया गया । यह निर्णय का एक पक्ष था । निर्ण य का दूसरा पक्ष था- दलितों के लिये सुरक्षित सीटों में मतदान कौन करें ? इस विषय में पृथक प्रतिनिधित्व की वही प्रणाली अपनाई गयी जो 1909 से भारतीय संवैधानिक प्रक्रिया में अपनायी गयी थी अर्थात् सुरक्षित सीटों के लिये उसी धर्म, वर्ग या सम्प्रदाय के लोग मतदान करें । इसी को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली या पृथक प्रतिनिधित्व कहा जाता था । अन्य सम्प्रदायों के लिये इसे बढ़ाने के साथ-साथ 1932 की घोषणा में जब यह कहा गया कि दलितों को भी पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार होगा तो भारतीय राजनीति में एक संकट की स्थिति खड़ी हो गयी और इस समय सभीके सम्मुख यह प्रश्न था कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की घोषणा का विरोध कैसे किया जाय, क्योंकि यदि विरोध नहीं किया जाता तो आगामी

अधिनियम में इसे अपना लिया जाता । यह प्रक्रिया आगामी अधिनियम की संवैधानिक प्रक्रिया का एक भाग बन जाती ।

जहाँ अन्य राजनीतिक दल और कांग्रेस के नेता इस विषय पर विचार कर ही रहे थे । वहीं तेरह सितम्बर 1932 को समाचार पत्रों ने एक सनसनी खोज समाचार दिया कि भावी संविधान में दलितों को पृथक प्रतिनिधित्व देने के विरोध में गाँधी ने आमरण अनशन करने का निर्णय लिया । गाँधी जी इस समय यरवदा जेल में थे और अन्य बड़े नेता भी अलग-अलग करागारों में बन्द थे । अतः संगठित रूप से विरोध करने के स्थान पर वे व्यक्तिगत रूप से ही विरोध कर सकते थे ।गाँधी जी की यह घोषणा इस तथ्य की द्योतक थी कि उन्होंने हिन्दू समाज को विभाजित करने की ब्रिटिश चाल को समझा और भविष्य के खतरों को ध्यान में रखते हुए विरोध करने के लिये अपने प्राणो की आहुति तक करने को तैयार हो गये ।

गांधी जी के इस विरोध का तुरन्त प्रभाव पड़ा । अनेक नेताओं ने बम्बई में सम्मेलन किया और वस्तुस्थिति पर विचार किया । मदन मोहन मालवीय,तेजबहादुर सप्रू, एम॰आर॰ जयकर राजागोपालाचारी, राजेन्द्र प्रसाद, मुंजे आदि अलग-अलग विचारों के व्यक्ति बम्बई में एकत्रित हुए और उन्होंने ऐसे उपायों पर विचार किया, जिससे गांधी जी के जीवन को बचाया जा सके ।[18] ऐसी स्थिति में दलितों के नेता डॉ॰ भीमराव

अम्बेडकर से सम्पर्क किया गया और उनसे आग्रह किया गया कि वे परिस्थिति के आधार पर समझौते को तैयार हो जाय । डॉ॰ अम्बेडकर ने लचीला रूख अपनाया तथा गांधी जी के विचारों को जानना चाहा और यह तर्क दिया कि पहले से कोई आश्वासन देना उनके लिये उचित नहीं होगा । अम्बेडकर से सम्पर्क करने के उपरान्त तेज बहादुर सप्रू और एम॰आर॰ जयकर को आशा की किरण दिखाई देने लगी । उन्होंने अपने संवैधानिक और विधि के ज्ञान का उपयोग करते हुये भावी समझौते का प्रारूप तैयार करना शुरू कर दिया । आपस में विचार करने के बाद सप्रू, जयकर, जी॰डी॰ बिड़ला, राजागोपालाचारी और राजेन्द्र प्रसाद पूना पहुँचे जहाँ यर्वदा जेल में गांधी से विस्तृत वार्ता करने का क्रम आरम्भ हुआ । इस समय तक गांधी जी अपना आमरण अनशन आरम्भ कर चुके थे । गांधी जी ने सभी पक्षों के विचारों को सुना और डॉ॰ अम्बेडकर के विचार भी जानने चाहे । अन्ततः लम्बी बातचीत के उपरान्त उन सभी नेताओं ने तथा डॉ॰ अम्बेडकर ने उस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये जो पूना समझौता कहलाया । इस समझौते के पूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अपनी वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी थी । उसने यह पहले ही कह दिया था कि यदि दलितों के नेता और अन्य राजनीतिक दलों और वर्गों के लोग प्रतिनिधि प्रणाली के बारे में कोई समझौता कर लेगें अथवा साम्प्रदायिक निर्णय के विषय में कोई समझौता कर लेगें अथवा साम्प्रदायिक निर्णय के पक्ष में कोई संशोधन

प्रस्तुत करेंगें तो ब्रिटिश सरकार को ऐसा संशोधन स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं होगी । ब्रिटिस सरकार के इस रूख के कारण पूना समझौता करना सम्भव हो सका । पूना समझौता भारत के संवैधानिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि पृथक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को यहाँ से तिलांजलि दे दी गयी । हमेशा के लिए दलितों अथवा अन्य जातियोंके लिये पृथक प्रतिनिधित्व का विचार समाप्त कर दिया गया । इस समय से भविष्य में कभी भी फिर से इन सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गो के लिये पृथक प्रतिनिधित्व की माँग नहीं की गयी । पूना समझौते के अनुसार यह निश्चय किया गया कि दलित जातियों के लिये सीटों का आरक्षण पहले से भी अधिककर दिया जायेगा, परन्तु इन आरक्षित सींटों के लिये पृथक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त समाप्त कर दिया गया । इसका अर्थ यह हुआ कि विधानसभा में केन्द्रीय असेम्बली के लिये सीटें तो आरक्षित हो सकती थी, परन्तु इन सीटों पर मतदान भविष्य में संयुक्त रूप से ही होना था, अर्थात् सभी वर्गो और सम्प्रदायों के लोग जो उस निर्वाचन क्षेत्र में रहते होगे, वे मतदान करेंगें । पूना पैक्ट का यही आधारभूत निर्णय था । पूना पैक्ट में यह सिद्धान्त भी माना गया कि किसी भी पिछले वर्ग को उसकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक सीटें सुरक्षित सीटों के रूप में निश्चित की जा सकती थी ।

जवाहर लाल नेहरू ने विचार व्यक्त किया कि पूना समझौते के द्वारा दलितों के प्रतिनिधित्व का एक सर्वमान्य सिद्धान्त स्वीकृत हो गया ।[19] जवाहरलाल ने तार द्वारा अपनी प्रतिक्रिया गाँधी जी को बतायी । इसी तार में उन्होंने कहा था कि " दबे हुये दलित वर्गों के कल्याण के लिये कोई भी त्याग कम माना जायेगा" ।[20] प्रधानमन्त्री मैक्डोनाल्ड की साम्प्रदायिक घोषणा से उपजा विवाद गांधी जी के साहसपूर्ण कदम से ही सुलझाया जा सका । इस विषय पर कांग्रेस की कार्य समिति ने जून 1934 में विस्तृत विचार-विमर्श किया । कांग्रेस ने मत व्यक्त किया कि साम्प्रदायिक घोषणा "पूर्ण रूप से असन्तोषजनक थी और इसमें अनेक कारणों से गम्भीर आपत्तिजनक बातें थी" । प्रस्ताव में आगे कहा गया कि " ऐसे परिणामों से बचने के लिये एक मात्र विकल्प यह है कि आपस में मिल बैठकर सभी वर्गों और सम्प्रदायों के लोगों से बातचीत की जाय और जो प्रश्न पूरी तरह से आन्तरिक प्रश्न है , उनके समाधान के लिये किसी बाहरी या ब्रिटिश सरकार की ओर मुँह न ताका जाय ।"[21]

1934 का श्वेत पत्र और कांग्रेस

जून 1934 से कांग्रेस ने भावी संवैधानिक प्रस्तावों के विषय में अपनी नीति पर विचार करने का क्रम आरम्भ किया । इसी समय ब्रिटिश सरकार की ओर से एक श्वेत पत्र निर्गत किया गया था, जिसमें बाद में पारित होने वाले अधिनियम के संभावित प्रारूप की चर्चा थी । अतः

स्वाभाविक ही था कि कांग्रेस ने भी भविष्य में स्वीकृत होने वाले अधिनियम के विषय में विचार करने का क्रम आरम्भ कर दिया । इस समय जो प्रस्ताव पारित किया गया, उसकी विशेषताऐं उल्लेखनीय है । कांग्रेस के प्रस्ताव में पहली आपत्ति यह की गयी कि " श्वेतपत्र जनभावनाओं को व्यक्त नहीं कर रहा था और कांग्रेस के आदर्शों और अपेक्षाओं से बहुत कम था ।"[22]

कांग्रेस के प्रस्ताव में संविधान सभा के गठन की चर्चा की गयी है । पिछले अनेक वर्षों से कांग्रेस यह माँग करती रही थी कि भारत के संविधान का स्वरूप संविधान सभा द्वारा तय किया जाय, ब्रिटिश संसद द्वारा नहीं । इस समय जो प्रस्ताव पारित किया गया उसमें भी यह उल्लेख मिलता है । प्रस्ताव इस प्रकार था ।

" श्वेत पत्र का सन्तोषजनक विकल्प यही हो सकता है कि एक ऐसा संविधान तैयार किया जाय जिसका निर्माण संविधान सभा द्वारा हो, ऐसी सभा जो वयस्क मताधिकार अथवा दूसरे जनहितीय सिद्धान्तों पर आधारित हो और जिसे यह अधिकार हो कि आवश्यकता पड़ने पर उसके सदस्य महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों से भी निर्वाचित हो और इन सदस्यों का निर्वाचन अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा ही हो ।"[23]

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के इस प्रस्ताव से यह दिखाई दिया कि कांग्रेस की आस्था संसद द्वारा पारित किये हुये अधिनियम से उठ रही

थी और यह राष्ट्रीय संस्था संविधान निर्माण में अपनी प्रत्यक्ष प्रभावी भूमिका चाहती थी ।

1934 के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता राजेन्द्र प्रसाद ने की । उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में श्वेत पत्र की विस्तृत आलोचना की तथा कहा कि वे सरकार की घोषणाओं से कुछ भी आशा न करें । कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में उनका कहना था । "सरकार के विचार का क्रम पिछले छः सात वर्षों से लगातार चलता आ रहा है । हमें यह देखना है कि ये इतने लम्बे-चौड़े विचार के बाद भी क्या सरकार ऐसे कोई प्रस्ताव प्रस्तुत करेगी जो नरमदलीय विचारों को सन्तुष्ट कर सके । राजेन्द्र प्रसाद ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उन्हें श्वेत पत्र से कोई भी आशायें नहीं जगी थी ।

कांग्रेस के अध्यक्ष के भाषण में सरकार के श्वेत पत्र की जाँच चार आधारों पर की गयी । पहला आधार यह था कि क्या प्रस्तावित नयी विधानसभायें वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व करेंगी । इस विषय में उन्होंने पाया कि ब्रिटिश प्रस्तावों का उद्देश्य यह था कि जहाँ इन विधान सभाओं में अधिकारी अथवा सरकार के द्वारा मनोनीत व्यक्तियोंकी उपस्थिति थी वहीं अब देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों को पर्याप्त स्थान देने का प्रावधान किया जा रहा था । परिणामतः उन्होंने आशंका व्यक्त की कि प्रस्तावित विधान सभायें " कहीं कम प्रगतिशील संस्थायें" बन जायेगी । दूसरा आधार उनका यह था कि क्या कार्यकारिणी प्रतिनिधि संस्था के

प्रति उत्तरदायी होगी ? इस जाँच का उत्तर देते हुये राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि ऐसा कुछ भी नहीं होने वाला था, क्योंकि भविष्य में जो अधिनियम पारित होने जा रहा था, उसमें गवर्नर जनरल और गवर्नरों को असाधारण विशेषाधिकार देने की व्यवस्था की जा रही थी, और यह भी आशंका थी कि गवर्नर जनरल और गवर्नरों के विशेषाधिकार अत्यन्त व्यापक बनाये जायेंगे। कांग्रेस अध्यक्ष ने तीसरे आधार पर भावी संविधान के प्रारूप पर विचार किया। उनका यह आधार था कि क्या विधान-सभाओं को पर्याप्त वित्तीय अधिकार होंगे क्योंकि अभी तक जो विधानसभायें गठित की गयी थी, उन्हें सरकार के खर्च पर अंकुश रखने का अधिकार नहीं दिया था। राजेन्द्र प्रसाद का अनुमान यह था कि प्रस्तावित केन्द्रीय विधान सभा केन्द्रीय सरकार के लगभग अस्सी प्रतिशत बजट पर अपना मत नहीं व्यक्त कर सकेगी। शेष बीस प्रतिशत खर्चे पर भी विधान सभा के अधिकार पर राजेन्द्र प्रसाद की अपनी शंकाये थी। राजेन्द्र प्रसाद ने चौथी जाँच का आधार यह बताया कि क्या इस भावी अधिनियम से विकास सुनिश्चित हो सकेगा और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि अभी भी सब कुछ ब्रिटिश संसद के नियन्त्रण में रखा जा रहा था।

कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में राजेन्द्र प्रसाद ने एक और चेतावनी भी दी जो भविष्य में खरी उतरी। यह चेतावनी प्रस्तावित संघ के बारे में

थी । उनका कहना था कि भारत में एक ऐसी संघीय व्यवस्था प्रस्तावित की जा रही थी जो अपने में अनूठी थी और जो अन्य संविधानों में स्वीकृत संघीय व्यवस्था के प्रतिकूल थी । उनकी आपत्ति का कारण यह था कि केन्द्रीय कार्यकारिणी को असाधारण अधिकार देकर संघीय व्यवस्था को चलाना पर्याप्त कठिन हो सकता था ।[24]

केन्द्रीय विधानसभा के निर्वाचन में कांग्रेस का सम्मिलित होना:

1934 से ही कांग्रेस के सम्मुख एक दुविधा की स्थिति बन रही थी जो इस तथ्य की परिचायक थी कि कांग्रेस में अलग-अलग विचारधारायें थी । प्रमुख नेताओं का दृष्टिकोण अलग-अलग प्रकार का था । इस कारण जहाँ एक ओर कांग्रेस ने 1935 के पारित होने वाले अधिनियम के प्रारूप के विषय में सैद्धान्तिक आपत्तियाँ प्रकट की वहीं उसने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुये कौंसिल प्रवेश की राजनीति की ओर लौटने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया ।

1933 के मध्य में औपचारिक रूप से सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था और इसे स्थगित करने या समाप्त करने की घोषणा नहीं की गयी थी । लेकिन फिर भी जुलाई 1933 में पटना में कांग्रेस के लगभग एक सौ पच्चास नेता एकत्रित, हुये । उन्होंने मुख्यतः यह विचार किया कि केन्द्रीय विधानसभाओं के होने वाले निर्वाचनों में कांग्रेस को भाग लेना चाहिए । इन नेताओं में मद्रास प्रान्त के सत्यमूर्ति और आशफ अली प्रसिद्ध

थे । ये नेता संवैधानिक राजनीति को अपनाने को तैयार थे और स्वराज दल को भी पुर्नजीवित करने का भी विचार इन्होंनें किया । 1933 से 1934 तक यह क्रम लगातार जारी रहा । इस बीच कांग्रेस ने औपचारिक रूप से सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया ।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगित हो जाने के बाद सरकार ने कांग्रेस से प्रतिबन्ध हटा लिया जो कांग्रेस इस समय तक गैर कानूनी संस्था बनी हुई थी, वह 1934 से एक नियमित संस्था बन गयी जो खुले आम अधिवेशन कर सकती थी, विचार-विमर्श कर सकती थी और भावी संवैधानिक प्रक्रिया में भाग ले सकती थी । इससे संवैधानिक राजनीति में सक्रिय भाग लेने के लिये कांग्रेस को अवसर मिला और उसे यह तय करना था कि आन्दोलन के स्थगित होने के बाद क्या उसी प्रकार से संवैधानिक राजनीति के मार्ग पर फिर से चला जाय जैसा 1922 के बाद किया गया था । 1934 की स्थिति 1922 से भिन्न नहीं थी और 1934 में भी प्रायः उसी प्रकार से संवैधानिक राजनीति के रास्ते पर कांग्रेस ने चलने का निश्चय किया जैसा 1922 में किया था । निश्चय ही 1934 के कई निर्णय पहले के कई निर्णयों से भिन्न थे । पहला प्रमुख अन्तर तो यह था कि स्वराज दल नामक अथवा इससे मिलता-जुलता कोई राजनीतिक दल कांग्रेस के अन्दर नहीं बनाया गया । किसी स्पष्ट दल को यह काम करने देने के स्थान पर 1934 से 1939 तक कांग्रेस ने स्वयम् संवैधानिक राजनीति करने का निर्णय लिया । संविधान द्वारा जो अवसर दिये जा रहे थे, उनका उपयोग करके कांग्रेस ने आन्दोलन

के विकल्प का रास्ता अपनाया ।

इस बदले हुये राजनीतिक वातावरण में सभी की निगाहें गांधी की ओर थी । गांधी जी ने स्वराजिओं को कभी मन से आर्शिवाद नहीं दिया । वे स्वराज पार्टी के लगातार आलोचक रहे परन्तु इस बार उन्होंने परिवर्तित दृष्टिकोण को पहचाना और अनुभव किया कि कौंसिलों में जाकर ही समुचित कार्य किया जा सकता है । घनश्यामदास बिड़ला को अप्रेल-1934 में गाँधी जी ने इस प्रकार एक पत्र में लिखा ।

" कांग्रेस के अन्दर हमेशा एक दल ऐसा रहेगा जो कौंसिल प्रवेश के विचार का समर्थक होगा । कांग्रेस की बागडोर इस दल के हाथ में होनी चाहिये "[25] गांधी के सम्मुख कुछ मजबूरियाँ भी थी, क्योंकि 1934 में वामपंथी विचार रखने वाले पर्याप्त प्रभावशाली थे और उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन इसी वर्ष किया था । कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कौंसिल प्रवेश की राजनीति की प्रबल बिरोधी थी । अतः गांधी जी को और अन्य उनके समर्थको को यह निर्णय करना था कि कौंसिल प्रवेश के निर्णय में कौन सा रास्ता अपनाये ।

स्वराज दल को पुनर्जीवित करने वालों का समर्थन करे अथवा कांग्रेस सोशलिस्ट दल की नीतियों का अनुसरण करें । गांधी जी ने कौंसिल प्रवेश को स्वीकारना उचित समझा और उनके समर्थकों ने भी वामपंथियों को अधिक अवसर देने का विरोध किया । घनश्याम दास बिड़ला ने तीन अगस्त

1934 को एक पत्र में कांग्रेस की राजनीति पर यह टिप्पणी की ।"
"बल्लभभाई पटेल, राजा जी और राजेन्द्र बाबू सभी मिलकर साम्यवादियों और समाजवादियों का विरोध कर रहे हैं । इसलिये यह आवश्यक है कि हममें से जो लोग स्वस्थ पूँजीवाद के समर्थक हैं । गांधी जी की सहायता करें और जहाँ तक सम्भव हो , समान उद्देश्य के लिये काम करें"[26] इन परिस्थितियों में गाँधी जी ने यह निर्णय किया कि अलग से स्वराजदल गठित करने के स्थान पर कौंसिल प्रवेश समर्थकों को कांग्रेस के अन्दर रहकर कार्य करने की छूट दे दी जाय । अतः कौंसिल प्रवेश की नीति कांग्रेस की नीति बन गयी और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अन्त हो जाने के बाद 1934 से कांग्रेस के प्रतिनिधियों ने केन्द्रीय विधान सभा के उपचुनाव में भाग लेना आरम्भ कर दिया ।

उन्नीस मई 1934 को पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की एक सभा हुयी जिसमें कांग्रेस संसदीय बोर्ड के गठन करने का प्रस्ताव गांधी जी ने प्रस्तुत किया । गांधी जी के भाषण में उनका अन्तर्द्वन्द झलक रहा था । एक ओर उन्होंनें अपने को "व्यावहारिक आदर्शवादी" बताया और यह कहा कि लम्बे समय तक स्वराज प्राप्त करने में विधानसभाओं के प्रयोग पर उन्हें विश्वास नहीं रहा है । फिर भी उन्होंनें स्वीकार किया कि कांग्रेस में ऐसा वर्ग हमेशा रहा था जो कौंसिलों के भीतर जाकर काम करना चाहता था । गांधी जी के भाषण का एक अंश इस प्रकार था । "मेरा

विश्वास है कि बहुमत कौंसिल प्रवेश की चमक से अछूता रहेगा । अपनी जगह पर यह उपयोगी रहेगा लेकिन अगर कांग्रेस अपना सम्पूर्ण ध्यान कौंसिल कार्य में लगा देगी तो वह आत्महत्या करेगी" ।[27] इस उद्धरण से गांधी जी की विचारधारा को समझा जा सकता है । वे कौंसिल प्रवेश को कांग्रेस की राजनीति का मूल भाग मानने को तैयार नहीं थे । उन्हें यह विश्वास भी नहीं था कि कौंसिलों के अन्दर जाकर या संवैधानिक राजनीति करके स्वराज प्राप्त किया जा सकता था । परन्तु जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित हो गया तो वैकल्पिक रास्ते के रूप में संवैधानिक राजनीति में रोड़ा अटकाने की नीति को उन्होंने चुना ।

परिवर्तित परिस्थितियों के आधार परकांग्रेस ने संसदीय बोर्ड के गठन का निश्चय किया । उन्नीस सौ चौतीस की इस घोषणा में यह कहा गया कि इस बोर्ड को समस्त संसदीय कार्यों के निरीक्षण का अधिकार होगा । इस प्रकार से कांग्रेस ने औपचारिक रूप से विधानसभाओं में जाने का निर्णय कर लिया ।

<u>ब्रिटिश संसद द्वारा उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम की स्वीकृति :-</u>

यह ध्यान देने योग्य है कि ब्रिटिश सरकार ने लगभग आठ वर्षों तक अधिनियम के स्वरूप पर विचार किया । इस विचार को दो भागों में बांटा जा सकता है । पहला भाग 1932 तक दूसरा 1933 से 1935 तक । उन्नीस सौ बत्तीस तक ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों से परामर्श करने का

क्रम चलाये रखा और यह दर्शाया कि भविष्य में स्वीकार किये जाने वाले अधिनियम में भारतीयों की आशाओं तथा आकांक्षाओं का पर्याप्त सम्मान किया जायेगा । इसी उद्देश्य से साइमन कमीशन को भारत भेजा गया और तीन गोलमेज सम्मेलन लन्दन में आयोजित हुये जिसमें भारतीयों को अपने विचार प्रस्तुत करने के अवसर दिये गये । लेकिन अन्तिम तीन वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने न तो कांग्रेस के विचार जानने चाहे और न किसी अन्य राजनीतिक दल के । ब्रिटिश सरकार अपने उद्देश्य से और अपने सिद्धान्तों के अनुसार संवैधानिक व्यवस्था का स्वरूप तय करती रही और उसने समय-समय पर जो समितियां गठित की उनके द्वारा यह संकेत दिया गया कि किस प्रकार की संवैधानिक प्रक्रिया का स्वरूप उसके सम्मुख था ।

19 दिसम्बर 1934 को ब्रिटिश संसद के सम्मुख एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जो आगामी वर्ष में स्वीकृत किये जाने के कारण उन्नीस सौ पैंतीस का अधिनियम कहलाया । इस प्रकार पारित होने की प्रक्रिया में यह भी ऊपर से लादा हुआ अधिनियम था जैसे कि अन्य अधिनियम थे और इसको अन्तिम रूप दिये जाने के समय कांग्रेस की प्रतिक्रिया और आपत्तियों को अनदेखा कर दिया गया । केवल श्रमिक दल ने संसद में ऐसे विचार प्रस्तुत किये जिनमें कांग्रेस के विचारों की स्वीकृति दिखाई देती है । प्रसिद्ध श्रमिक नेता क्लेमेन्ट एटली के भाषण पर विचार करके यह देखा जा सकता है कि अधिनियम पर हुयी बहस के समय श्रमिक दल ने कैसे विचार प्रस्तुत किये और

किस प्रकार उसके विचारों में कांग्रेस की नीतियों की गूँज मिलती है। अधिनियम पर हुई बहस के समय क्लेमेन्ट एटली ने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

"ऐसा कोई भी अधिनियम संतोषजनक नहीं होगा जो भारतीयों के सहयोग और सद्भावनाओं पर आधारित न हो। तथा जिसमें स्पष्ट रूप से भारत के औपनिवेशिक स्थिति के अधिकार को स्वीकार न किया गया हो।" उसने ब्रिटिश सरकार को चेतावनी देते हुये कहा कि भारत के लोग औपनिवेशिक स्थिति के पक्ष में बहुत ध्यान देते हैं और अगर विधेयक में इसकी चर्चा न की गयी तो यह एक निराशाजनक पक्ष होगा। उसने आगे कहा कि सरकार द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विधेयक अविश्वास पर आधारित है। एटली के भाषण में एक और बात कही गयी। उसने कहा कि केन्द्रीय विधानसभा में जमीदारों, व्यापारियों तथा इसी प्रकार के प्रति-क्रियावादी लोगों का बहुमत जुटाया जा रहा है, जिससे यह आभास होता है कि भारत की शासन व्यवस्था सम्पन्न लोगों और उन लोगों के हाथों में होगी जो श्रेष्ठ है।[28]

यह विधेयक ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों से बिना किसी विशेष परिवर्तन के स्वीकृत हो गया। यह ध्यान देने योग्य है कि इसका स्वरूप प्रायः वही बना रहा जैसा आरम्भ में प्रस्तावित किया गया था। दो अगस्त 1935 में भारत सरकार विधेयक उन्नीस सौ पैतीस ब्रिटिश संसद द्वारा पारित

दिया गया । इस प्रकार एक लम्बा अध्याय समाप्त हुआ ।

1935 का अधिनियम और कांग्रेस की नीति

1935 के अधिनियम की निम्न व्यवस्थायें थी ।

इस अधिनियम ने दोहरी शासन प्रणाली को हटाकर उसके स्थान पर प्रांतों में स्वायत शासन स्थापित किया । यह 1935 के अधिनियम का महत्वपूर्ण निर्णय था जिसकी विशद व्याख्या हम आगे चलकर कर रहे हैं ।

यह भी हमारे देश के इतिहास में एक उल्लेखनीय व्यवस्था थी जिसको पहली बार किसी अधिनियम के अंतर्गत स्वीकार किया गया था । भारत ऐसे विशाल देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए यह प्रणाली स्वीकार की गयी थी । भारतीय संघ के स्वरूप की चर्चा अलग से की जा रही है ।

अधिनियम की विलक्षणताओं में से एक यह थी कि यद्यपि 1919 में आरम्भ की गयी द्वैध शासन -पद्धति प्रांतों में समाप्त कर दी गयी पर केंद्र में उसे लागू करने की व्यवस्था कर दी गयी । यह नहीं सोचा गया कि जो पद्धति प्रांतों में नहीं चल सकी वह केंद्र में किस प्रकार चल सकेगी । अधिनियम के निर्माताओं को क्रियान्वयन की चिंता नहीं थी । वे तो केवल इसी समस्या में उलझे रहे कि किस प्रकार केंद्र में उत्तरदायी शासन का दिखावा करके अधिक-से-अधिक समय तक निरंकुश और अनुत्तरदायी कार्य-कारिणी को बनाये रखा जा सकता था । 1935 में केन्द्र में केंद्रीय प्रशासनिक

क्षेत्र को आरक्षित और हस्तांतरित दो भागों में बाँटकर वायसराय को दोनों भागों को संचालित करने का उत्तरदायित्व दिया गया था । यह स्मरण रखना होगा कि 1935 की केन्द्रीय अथवा संघीय व्यवस्था वास्तव में कभी लागू ही नहीं की गयी । यदि ऐसा हुआ होता तो इस नये प्रयोग की कमजोरियाँ परिलक्षित होतीं ।

भारतीय प्रशासन के विषय में अभी भी अंतिम निर्णय करने का उत्तरदायित्व ब्रिटिश संसद को ही था । यही सर्वोच्च संस्था थी जिसके प्रति भारत का गवर्नर जनरल जिम्मेदार था। 1935 के अधिनियम को परिवर्तित अथवा संशोधित करने का अधिकार उसी को था । राजसत्ता ब्रिटिश संसद के हाथ में ही रही । उसे भारतीयों के हाथों में नहीं सौंपा गया ।

1935 के अधिनियम ने संघ की राजधानी दिल्ली में एक संघीय न्यायालय की स्थापना का उपबंध किया था । किसी भी संघ में ऐसे न्यायालय की आवश्यकता होती है जो प्रांतीय सरकारों के बीच अथवा केंद्र तथा प्रांत या प्रांतों के बीच उठे संवैधानिक प्रश्नों पर निर्णय दे सके । इस संघीय न्यायालय को इसी उद्देश्य से स्थापित करने का निश्चय किया गया था। इसके अलावा यह उच्च न्यायालय की अपीलें भी सुनता था । इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त तीन अन्य न्यायाधीशों के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गयी थी । 1937 में संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी ।

मोंटफोर्ड रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया था कि सांप्रदायिक चुनाव पद्धति उत्तरदायी शासन के विकास में एक बड़ी बाधा थी । लेकिन ब्रिटिश प्रभाव को स्थायी बनाने की चिंता में इस रिपोर्ट ने इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और भारतीयों में फूट को उकसाने की भरसक कोशिश की गयी । इसी दृष्टि से 1935 के अधिनियम ने मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों, जमींदारों, पूँजीपतियों आदि सभी के लिये पृथक् चुनाव के तरीके को मान्यता दी । अधिनियम पारित होने के पूर्व हरिजन कहे जाने वाले वर्ग को भी पृथक् निर्वाचन का अधिकार देने का प्रस्ताव किया गया था । यदि गांधी जी इसके विरूद्ध आमरण अनशन न शुरू करते तो हिंदू समाज भी विभाजित हो सकता था । इस चुनाव के तरीके से विभिन्न संप्रदायों के बीच सद्भाव नहीं पनप सकता था ।

इस अधिनियम के द्वारा भारत सचिव को सलाह देने वाली उस परिषद् का अंत कर दिया गया जो इंडिया कौंसिल कहलाती थी । इसके स्थान पर तीन से लेकर छह परामर्शदाताओं तक को नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी । यह परिषद् एक प्रतिक्रियावादी संस्था थी जो भारत सरकार के हर प्रस्ताव पर अड़चनें लगाती थी । अतः इसका अंत करके एक अच्छा निर्णय किया गया ।

इस अधिनियम के अंतर्गत केंद्रीय और प्रांतीय विधान मंडलों का विस्तार किया गया । केंद्र में राज्य सभा की संख्या बढ़ाकर 360 कर दी

गयी और विधान सभा की संख्या बढ़ाकर 375 कर दी गयी थी । एक अन्य विशेष निर्णय यह किया गया था कि छह बड़े प्रांतों में दो सदनोंवाले विधान मंडलों की स्थापना की गयी । सभी प्रांतीय विधान सभाओं की संख्या बढ़ायी गयी थी । मतदाताओं की संख्या का भी विस्तार किया गया था । अधिनियम ने स्त्रियों को भी मतदान का अधिकार दिया । अब संपत्ति के अतिरिक्त शिक्षा को भी मतदाता की योग्यता का आधार मान लिया गया था।

संघीय व्यवस्था का प्रस्ताव और उसका स्वरूप

1935 के अधिनियम ने भारत में पहली बार एकात्मक शासन - व्यवस्था के स्थान पर संघीय व्यवस्था स्थापित करने का सुझाव दिया । भारत की पेचीदी संवैधानिक समस्याओं का यही एकमात्र उत्तर था । संघ को बनाकर ही बीसवीं शताब्दी की आवश्यकताओं के अनुसार शासन-प्रणाली का स्वरूप तैयार हो सकता था । इसी व्यवस्था में सभी देशी रियासतों को भी एक सूत्र में बाँधा जा सकता था । सभी पक्ष यह मानते थे कि संघ शासन से ही देश का हित था, पर संघ के निर्माण की योजना उपयुक्त नहीं थी । इसमें जान-बूझकर कुछ ऐसे अजीब प्रस्ताव किये गये कि यदि संघ वास्तव में स्थापित हो भी जाता तो वह उचित तरीके से चलाया नहीं जा सकता था । यह निराले ढंग का ही संघ होता । संघ के स्वरूप की चर्चा करते समय अधिनियम के विलक्षण प्रस्तावों पर भी विचार करना आवश्यक है ।

अधिनियम ने जिस प्रकार का संघ स्थापित करना चाहा था उसमें तीन प्रकार की इकाइयों को सम्मिलित करने का प्रस्ताव था । अखिल भारतीय संघ में ।। ऐसे बड़े प्रांतों को शामिल होना था, जिसमें गवर्नरों का शासन या, 6 छोटे प्रांतों को शामिल होना था जिनमें चीफ कमिश्नरों का शासन या तथा सभी देशी रियासतों को स्थान देने की व्यवस्था थी । ये तीनों इकाइयाँ जनसंख्या, क्षेत्रफल और प्रशासकीय व्यवस्था कीदृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं । इनको एक संघ में मिलाना एक तो वैसे ही कठिन था पर अधिनियम के प्रस्तावों ने इसे विचित्र बना दिया । भारत में उस समय तक दो प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था चल रही थी । ब्रिटिश भारत जहाँ लोकतंत्र की स्थापना के प्रयत्न में लगा हुआ था वहाँ दूसरी ओर देशी रियासतों में स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था । इन दोनों प्रकार की इकाइयों को उसी प्रकार से बनाए रखने का प्रस्ताव किया गया था जिसके मिश्रण से संघ के संचालन में कठिनाइयाँ उभरतीं ।

अधिनियम के अनुसार इकाइयों को संघ में शामिल करने के उद्देश्य से दोहरी कार्यवाही की जानी थी । पहले तो ब्रिटिश भारत में प्रचलित शासन की इकाई तो तोड़कर स्वायत्तता-प्राप्त प्रांतों में विभाजित करना था और फिर उन्हें संघीय आधार पर जोड़कर एक ऐसी पद्धति अपनानी थी जिसमें इन प्रांतों के अतिरिक्त देशी राज्य भी इकाई के रूप में संघ में शामिल हो जाते ।

ब्रिटिश सरकार ने देशी नरेशों को हर प्रकार से संतुष्ट करके उन्हें संघ में शामिल होने को कहा । इससे संघ में देशी रियासतों को कई विशेष अधिकार दिये गये । ब्रिटिश प्रांतों के लिए संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था जबकि देशी रियासतों के लिए संघ में सम्मिलित होना ऐच्छिक था । प्रत्येक देशी रियासत के नरेश को यह अधिकार दिया गया कि वे चाहें तो संघ में भाग लें और चाहें तो उससे अलग रहें । इतना ही नहीं, अधिनियम की एक धारा के अनुसार संघ की स्थापना का भार भी इन्हीं नरेशों के कंधों पर था । यह कहा गया था कि संघ व्यवस्था तभी आरम्भ की जायेगी जब उतनी रियासतें संघ में शामिल हो जायेंगी जिनकी जनसंख्या ब्रिटिश भारत की जनसंख्या की आधी से कम न होगी । अगर भारत में 1935 के अधिनियम के अनुसार संघ स्थापित नहीं हुआ तो इसका एक कारण यह था कि यह शर्त पूरी नहीं हुयी ।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि संघ में शामिल होने वाली इकाइयों की संख्या 300 से भी अधिक हो सकती थी और अगर ऐसा हो जाता तो एक निराले ढंग के संघ का प्रयोग भारत में होता । ब्रिटिश प्रांतों के अतिरिक्त 600 देशी राज्य भारत में थे जिनमें से करीब आधे बड़े तथा मध्यम कोटि के राज्यों के मिल जाने से संघ का स्वरूप कुछ विचित्र सा हो जाता । दुनिया के अन्य संघों की इकाइयों की संख्या 50 के आस पास ही रही है जो आकार और जनसंख्या में लगभग एक दूसरे की तरह हीरहते हैं। पर 1935 के प्रस्ताव इस परम्परा से भिन्न थे ।

1935 के अधिनियम के अंतर्गत किसी भी संघ में पहली बार विधायी शक्तियों की तीन सूचियाँ बनायी गयी थीं । ये थीं केंद्रीय, प्रांतीय और समवर्ती सूचियाँ । विश्व के अन्य किसी संविधान में शक्तियों का इस प्रकार का विभाजन नहीं किया गया था । शेष शक्तियों का प्रश्न भी विचारणीय था । इस विषय में या तो यह निर्णय किया जाता है कि ये शक्तियाँ केन्द्र को दे दी जायें अथवा इकाइयों को इन्हें दे दिया जाता है । लेकिन इस अधिनियम में कुछ विचित्र निश्चय किया गया । इसने गवर्नर जनरल के हाथों में बची हुयी शक्तियाँ सौंप दीं और यह उसकी जिम्मेदारी हो गयी कि वह केन्द्र अथवा इकाइयों में से जिसे चाहे कोई भी बची हुयी शक्ति प्रदान कर सकता था ।

यह निर्णय भी संघीय परम्परा के अनुकूल नहीं था कि इकाइयों में तो उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो लेकिन केन्द्र का शासन आंशिक रूप से ही उत्तरदायी हो । केंद्र में दोहरे शासन की स्थापना करना संघीय भावना के लिए उचित नहीं था । इसके अनुसार गवर्नर जनरल भविष्य में भी गृह सरकार के प्रति उत्तरदायी बना रहा ।

संघीय व्यवस्था की यह मान्यता है कि इकाइयों को अपना शासन चलाने में अधिक से अधिक छूट दी जाती है । पर 1935 के अधिनियम ने संघीय व्यवस्था की स्थापना करते हुए भी पहले की एकात्मक व्यवस्था के मूल स्वरूप को बनाये रखना चाहा । केन्द्रीय सरकार को इकाइयों के प्रशासन को प्रभावित करने के अवसर दिये गये । गवर्नर जनरल प्रांतीय

सरकारों के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकता था । यह भी एक विचित्रता थी कि केन्द्र को केवल प्रांतों के मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार थे परन्तु देशी राज्यों के सम्बंध में उसे ये अधिकार कम थे । एक और बात यह थी कि संघ में शामिल होते समय जिस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने को देशी राज्यों से कहा गया था वह भी सभी के लिए एक समान नहीं था । इस प्रकार जहाँ किसी एक देशी राज्य के विषय में केन्द्र को कोई प्रशासकीय अथवा विधायी अधिकार प्राप्त हो सकता था वहाँ दूसरे राज्य के विषय में स्थिति बदल सकती थी । स्वाभाविक है कि संघ सरकार और इकाइयों के बीच सम्बन्धों में इससे जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती थीं ।

संघ के विधान मंडलों का स्वरूप भी निराला होता क्योंकि इनमें प्रजातांत्रिक और स्वेच्छाचारी व्यवस्थाओं का मिश्रण करने की कोशिश की गयी थी । जबकि प्रांतों के चुने हुए प्रतिनिधि केन्द्रीय विधान मंडल में जाते, वहीं देशी नरेशों को यह अधिकार दिया गया था कि वे किसी को भी मनोनीत करके केन्द्रीय विधान मंडल के सदस्य के रूप में भेज सकते थे । देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को मनोनीत करने की व्यवस्था एक प्रतिक्रियावादी निर्णय था ।

प्रांतीय स्वायत्तता

इस अधिनियम की सभी व्यवस्थाओं में से भारतीयों के हितों की

दृष्टि से प्रांतों में प्रशासनिक परिवर्तन करने का निर्णय सबसे अधिक महत्व-पूर्ण था । प्रांतों में स्थापित नयी व्यवस्था को प्रांतीय स्वायत्तता कहा गया । लेकिन इस प्रकार की व्यवस्था के लिए "स्वायत्तता" शब्द के अर्थों को अस्पष्ट ही बनाये रखा गया । फिर भी हमें यह तो समझना होगा कि वास्तव में इस नयी शब्दावली का प्रयोग किन अर्थों में किया गया था । वास्तव में प्रांतीय स्वायत्तता से दो अर्थ लिये जा सकते हैं । पहले तो इसका उद्देश्य प्रांतों में एक ऐसा शासन स्थापित करना था जिस पर जनता द्वारा चुने हुए मंत्रियों का नियंत्रण हो । प्रांतीय सरकारों को प्रांत के भीतर एक सुनिर्दिष्ट क्षेत्र में अधिकार प्राप्त हो गये लेकिन प्रांतों में उत्तरदायी सरकार तभी स्थापित हो सकती थी जब केन्द्रीय दबाव से मुक्त हो जाती । इसीलिए स्वायत्तता का दूसरा अर्थ यह लगाया गया कि प्रांत पर केन्द्रीय नियंत्रण समाप्त किया जाये । 1935 का अधिनियम तैयार करने के लिए जो संयुक्त प्रवर समिति नियुक्त की गयी थी उसने भी प्रांतीय स्वायत्ता की इन्हीं दो विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि "यह एक ऐसी योजना है जिसमें गवर्नर के अधीन प्रांतों में एक ऐसी कार्यकारिणी और विधान मंडल होंगे जो अपने परिभाषित क्षेत्रों में काम करेंगे और वे केंद्रीय सरकार और केंद्रीय मंडल के प्रभाव से मुक्त होंगे ।"

प्रांतीय स्वायत्त शासन की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं -

प्रांतीय स्वायत्ता के द्वारा प्रांतों की स्थिति सुधरी । अभी तक

प्रांत एक शक्तिवाली केन्द्रीय सरकार की प्रशासकीय इकाई थे । 1935 के अधिनियम ने उन्हें एक नया संवैधानिक स्थान दिलाया । अब प्रांतीय सरकारों को प्रशासकीय अधिकार केन्द्र की कृपा से नहीं अपितु संविधान से प्राप्त हुए । प्रांतों को लगभग वही संवैधानिक पद प्राप्त हो गया जो केन्द्र को प्राप्त था और वे केन्द्रीय सरकार से समानता के आधार पर संपर्क करते थे । प्रांतों की स्वतंत्र सत्ता को अधिनियम ने स्वीकार किया था।

अधिनियम ने प्रांतीय सीमाओं में परिवर्तन किया जिसके परिणाम-स्वरूप प्रांतों का आधुनिक स्वरूप निखरने लगा । बंबई के सिंधी प्रदेश को अलग करके सिंध प्रांत बना दिया गया । इसी प्रकार मद्रास प्रांत की सीमाओं को बदलकर उड़ीसा का नया प्रांत भी बनाया गया । बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया । इस ढंग से अब ग्यारह प्रांत बन गये ।

केन्द्र और प्रांत के बीच शक्ति का विभाजन करके ही प्रांतीय शासन को स्वायत्तता दी जा सकती थी । अधिनियम ने तीन सूचियाँ तैयार करके केन्द्र और प्रांतों की शासन सम्बन्धी कानूनी और वित्तीय शक्तियों का विभाजन कर दिया । संघ सूची में 59 विषय रखे गये, प्रांतीय में 45 और समवर्ती सूची में 36 विषय रखे गये । समवर्ती सूची में केन्द्रीय और प्रांतीय दोनों ही सरकारें कानून बना सकती थी परन्तु शर्त यह रखी गयी कि केन्द्रीय कानून और प्रांतीय कानून दोनों जब बने होंगे तो केन्द्र द्वारा बनाये गये कानून को प्राथमिकता दी जायेगी ।

1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन को समाप्त करके

पूर्ण उत्तरदायी मंत्रिमंडल गठित करने का प्रावधान किया गया । इस निश्चय के कारण प्रांतीय क्षेत्र में आरक्षित और हस्तांतरित विषयों का विभाजन समाप्त कर दिया गया । सभी विषयों के प्रशासन के लिए मंत्रिमण्डल उत्तरदायी बना दिया गया और यह मंत्रिमण्डल विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी था । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रांतीय मंत्रिमण्डल तभी तक कार्य कर सकता था जब तक उसे विधान मंडल का विश्वास प्राप्त हो । पहली बार प्रांतीय स्तर पर उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का निश्चय किया गया ।

1919 के अधिनियम की तुलना में अब गर्वनरों की शक्तियाँ घटा दी गयी । उस समय आरक्षित विषय बहुत कुछ गर्वनर के ही अधिकार में थे । परन्तु अब किसी भी प्रांतीय विषय की जिम्मेदारी उसको नहीं दी गयी थी । सामान्य परिस्थितियों में गर्वनर मंत्रियों के विभागों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था । पर यहाँ यह कहना भी आवश्यक जान पड़ता है कि गर्वनर केवल नाममात्र का अधिकारी भी नहीं था । उसे पर्याप्त विशेषाधिकार दे दिये गये थे जिनके कारण भारतीयों ने अधिनियम की आलोचना की ।

1935 के अधिनियम में प्रांतीय सरकार के किसी भी विषय में गृह सरकार का हस्तक्षेप समाप्त कर दिया गया । पहले कई विधेयक यह सरकार की अनुमति के लिए रोके जा सकते थे या आरक्षित विषयों के सम्बन्ध में गृह सरकार हस्तक्षेप कर सकती थी । परन्तु अब इस प्रकार के हस्तक्षेप को समाप्त

कर दिया गया ।

1935 के अधिनियम के वास्तविक रूप के प्रकाशित हो जाने के उपरान्त कांग्रेस ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने में पर्याप्त समय लगाया । अप्रैल उन्नीस सौ छत्तीस में कांग्रेस का अधिवेशन जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ । यहाँ पर कांग्रेस की नीति स्पष्ट रूप से व्यक्त की गयी । इस स्थिति में कहा जा सकता है कि कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम पर विचार करने और अपना दृष्टिकोण तय करने का पर्याप्त समय मिला ।

सर्वप्रथम गांधी जी के दृष्टिकोण की चर्चा करना उपयुक्त होगा । गाँधी जी कुछ समय तक कांग्रेस से उसी प्रकार से दूर रहे जैसे असहयोग आंदोलन की समाप्ति के बाद वे कांग्रेस की राजनीति से दूर रहे । उस समय उनकी कुछ मजबूरियाँ थी । लेकिन उन्नीस सौ चौंतीस में उन्होंने कांग्रेस की प्राथमिक सदस्यता से त्यागपत्र देकर अपने को संगठन से अलग रखने की सोचा । गाँधीजी औपचारिक रूप से कांग्रेस के सदस्य रहे हो अथवा नहीं, कम से कम कुछ वर्षों तक वे कांग्रेस की राजनीति से दूर अवश्य रहे थे और वे जब कांग्रेस की राजनीति से दूर रहे तो 1935 के अधिनियम के विषय में उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की । न इसे अच्छा कहा और न बुरा तथा न ही यह मत दिया कि कांग्रेस को संवैधानिक राजनीति स्वीकारना चाहिए अथवा नहीं। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि आन्दोलन के विकल्प में संवैधानिक

राजनीति को उन्होंने स्वीकार तो किया किन्तु पूरे मन से नहीं । दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि 1922 से 1928 के बीच का दृष्टिकोण कोई खास बदला नहीं था । इसी कारण गाँधी जी ने न तो उन्नीस सौ छत्तीस के लखनऊ कांग्रेस में राजनीतिक चर्चा में कोई भाग लिया और न दिसम्बर उन्नीस सौ छत्तीस के फैजपुर अधिवेशन में ही उन्होंने कोई मत व्यक्त किया ।[29] गांधी जी द्वारा संवैधानिक प्रश्न पर विचार व्यक्त न करने से सभी का ध्यान अन्य कांग्रेसी नेताओं पर गया जो संवैधानिक राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित कर रहे थे ।

अप्रैल उन्नीस सौ छत्तीय के लखनऊ अधिवेशन में और दिसम्बर उन्नीस सौ छत्तीस के फैजपुर अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष रहे । इन दोनों अधिवेशनों में उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम पर चर्चा हुयी , बहस हुयी, विचार व्यक्त किये गये और प्रस्ताव पारित हुए । इस प्रकार से नेहरू की भूमिका महत्वपूर्ण रही । हमें यह विचारना है कि क्या जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस पर छाये रहे और उन्होंने जैसा चाहा उसी के अनुसार कांग्रेस की नीति बनायी । पहले जवाहर लाल नेहरू के विचारों को स्पष्ट करना उचित होगा । जवाहरलाल नेहरू अभी भी समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थे और अधिवेशनों के समय उन्होंने लम्बी-चौड़ी सैद्धांतिक बातें करते हुए उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम की चर्चा की । लखनऊ अधिवेशन में उन्होंने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहाकि कांग्रेस का पहला लक्ष्य स्वतान्त्रता होना चाहिए । इसे परिभाषित करते हुए उन्होंने इस प्रकार

स्पष्ट किया -"स्वतन्त्रता दी नहीं जा सकती । इसे भारत सरकार के अधिनियम द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि इस अधिनियम का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को स्थायी बनाना है" ।[30] इसी अध्यक्षीय भाषण में जवाहरलाल नेहरू ने उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम को "एक पीछे ले जाने वाला उपाय बताया" और कहा कि "परतन्त्रता की जंजीरों को मजबूत करने का एक नया चार्टर है " । उन्होंने "बिना किसी समझौते के इसका विरोध करने और इसे समाप्त करने की मांग की "। जवाहरलाल का अध्यक्षीय भाषण 1935 के अधिनियम की कटु आलोचना से भरा हुआ था क्योंकि वे समझते थे कि राष्ट्र की भावनाओं की उपेक्षा करके इसे "बाहरी शक्ति द्वारा लादा गया था" । जवाहरलाल नेहरू ने किसी बाहर से लादे गये संविधान को अस्वीकार करने में कोई भी हिचक नहीं दिखायी । अपने भाषण के अन्त में जवाहरलाल नेहरू ने साम्राज्यवादी ताकत से लगातार लोहा लेने का उद्देश्य व्यक्त किया ।[31] स्पष्ट है कि जवाहरलाल नेहरू का विरोध बहुत कुछ सैद्धांतिक था और उनकी प्रबल भावनाओं के अनुरूप था । यदि उनका वश चलता तो वे कांग्रेस द्वारा इसे पूरी तरह से अस्वीकार कर देते । परन्तु कांग्रेस के अन्दर विशाल बहुमत नेहरू के भाषण को सुनने को तैयार था । उनके विचारों के अनुसार कार्य करने को नहीं । अतः चाहे जितना जोशीला भाषण उन्होंने दिया हो लेकिन फिर भी उन्हें तुरन्त ही यह ज्ञात हो गया कि उनके सहयोगी इस अधिनियम के अनुसार कार्य करने को तैयार थे । तभी लखनऊ अधिवेशन के

समय कांग्रेस ने जो प्रस्ताव पारित किया, उसमें विधानसभाओं के चुनाव बहिष्कार की बात नहीं कही गयी अपितु कांग्रेस ने इनमें भाग लेने की इच्छा व्यक्त की । इस प्रकार एक विरोधाभास की स्थिति लखनऊ अधिवेशन में दिखाई दी । एक ओर कांग्रेस के प्रस्ताव में भारत सरकार अधिनियम का तीव्र विरोध झलक रहा था तो दूसरी ओर चुनावों में भाग लेने की कांग्रेस इच्छा भी व्यक्त कर रही थी ।[32] इसी अधिवेशन में एक संसदीय बोर्ड भी गठित कर दिया गया । जिसे भविष्य में होने वाले निर्वाचनों की जिम्मेदारी सौंप दी गयी ।

लखनऊ अधिवेशन के बाद फैजपुर अधिवेशन की हवा का रूख प्राय: उसी प्रकार था । इस समय जो प्रस्ताव कांग्रेस ने स्वीकार किया, उसकी व्यापक चर्चा करके हम कांग्रेस की मांग को समझ सकते हैं । यह देखा जा सकता है कि कांग्रेस का दृष्टिकोण क्या था ? वह संवैधानिक प्रश्न को किस दृष्टिकोण से देख रही थी । प्रस्ताव के पहले अंश में यह कहा गया- "यह कांग्रेस भारत सरकार अधिनियम 1935 की अस्वीकृति को पूरी तरह से दोहराती है और यह मानती है कि यह एक ऐसा संविधान है जो भारत पर उस देश के निवासियों की इच्छा के विरूद्ध उस पर लादा गया है । प्रस्ताव के दूसरे अंश में यह कहा गया "यह कांग्रेस पुन: कहती है कि वह इस संविधान को नहीं मानती और न इससे सहयोग करना चाहती है बल्कि विधान सभाओं के अन्दर और बाहर इसका केवल विरोध ही नहीं करेगी अपितु इसका अन्त करना चाहेगी । प्रस्ताव के तीसरे अंश में ब्रिटिश

संसद को चुनौती देते हुए यह वक्तव्य दिया गया "यह कांग्रेस किसी बाहरी ताकत को यह अधिकार नहीं देती और न उसका यह अधिकार मानती है कि वह भारत का राजनीतिक तथा आर्थिक स्वरूप तय करें और उसके ऐसे किसी भी प्रयास का भारतीय संगठित होकर विरोध करेंगे ।" यदि ब्रिटिश संसद के अधिकारों को अस्वीकार कर दिया गया तो स्वाभाविक रूप से कांग्रेस ने स्वयं अपना संविधान बनाने के अधिकार का पक्ष लिया और इस समय से वह लगातार इस मत को दोहराती रही कि भारतीय संविधान सभा द्वारा बनाया गया संविधान ही कांग्रेस को मान्य होगा । इस मत को व्यक्त करते हुए प्रस्ताव का अंश इस प्रकार था "भारत के लोग केवल ऐसे संविधान के स्वरूप को स्वीकार कर सकते हैं जो उनके द्वारा बनाया गया हो और जो राष्ट्र के रूप में भारत की स्वतन्त्रता पर आधारित हो तथा जो उनकी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं की पूर्ति करता हो।"[33]

फैजपुर कांग्रेस के प्रस्ताव की भाषा पर जवाहर लाल नेहरू के विचारों की स्पष्ट छाप थी । प्रस्तावों को पढ़कर यही लगता है कि कांग्रेस 1935 के अधिनियम की प्रबल विरोधी थी लेकिन बाद की घटनाओं से निर्वाचनों में, कांग्रेस के सम्मिलित होने से और संवैधानिक प्रक्रिया में भाग लेने से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि जवाहरलाल की इच्छा-नुसार और कांग्रेस समाजवादियों के विचारों को स्वीकार करते हुए कांग्रेस ने प्रस्ताव तो पारित कर दिये लेकिन फिर भी संवैधानिक राजनीति के मार्गों पर आगे बढ़ने के द्वार खोले रखे । सारांश यही निकलता है कि

कांग्रेस 1935 के संविधान से निराश अवश्य थी लेकिन फिर भी जो संवैधानिक अधिकार ब्रिटिश सरकार ने उसके लिए तय कर दिये, उसमें रहकर उसने कुछ वर्षों तक इस संविधान के अनुसार कार्य करने का प्रयास किया ।

—

संदर्भ

1. सुमित सरकार, मॉडर्न इंडिया, (दिल्ली, 1983), पृष्ठ308.

2. डी.जी.तेंदुलकर, महात्मा, (दिल्ली, 1961), खंड -3, पृ.45.

3. वही, पृ. 46.

4. जवाहरलाल नेहरू, ऐन ऑटोबायोग्राफी, पृ. 228.

5. सीतारामैय्या, दि हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड-1, पृ.467.

6. ए.एम.जैदी ऐण्ड एस.जी. जैसी (सं.), दि ऐनसाइक्लोपेडिया ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड सात, पृ. 440.

7. आर. सी. मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, खण्ड-3, पृ. 312.

8. वही, पृ. 360-365.

9. सीतारामैय्या, हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड-1, पृ.466.

10. डी.जी. तेंदुलकर, महात्मा, खंड-3, पृ. 167-171.

11. ए.सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-3, पृ.106.

12. सुमित सरकार, माडर्न इंडिया, पृ. 319-320.

13. बी.आर.नन्दा, महात्मा गांधी, पृ.310.

14. सुभाष चन्द्र बोस, दि इंडियन स्ट्रगल, पृ.230.

15. जे.एम.ब्राउन, गांधी एण्ड सिविल डिसओबिडिएंस, (कैम्ब्रिज, 1977), पृ. 257-258.

16. आर.सी.मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, खण्ड-3, पृ.495-501.

17. बी०एन०पाण्डेय (सं०), ए सेन्टेनरी हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल काँग्रेस खण्ड-2, पृ० 262.

18. जे०एम०ब्राउन, गांधी एण्ड सिविल डिओबिडएंस, पृ० 319.

19. जवाहरलाल नेहरू, ऐन ऑटोवायोग्राफी, पृ० 272.

20. वही, पृ० 272.

21. काँग्रेस वर्किंग कमेटी का प्रस्ताव, बम्बई, 17-18 जून, 1934, ए सेंचुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इंडिया, पृ० 155.

22. ए०एम०जैदी(सं०), ए सेंचुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इंडिया, काँग्रेस वर्किंग कमेटी का प्रस्ताव, 17-18जून, 1934 पृ० 154-155.

23. वही, पृ० 154.

24. ए०सी०बनर्जी (सं०), इंडियन कांस्टीट्यूशनल डाकूमेंट्स, (कलकत्ता, 1946), खण्ड-2, पृ० 355-363.

25. जी०डी०बिड़ला, इन दि शैडो ऑफ दि महात्मा, पृ० 138.

26. सुमित सरकार, माडर्न इंडिया, पृ० 331.

27. इंडियन एन्युअल रजिस्टर, 1934, खण्ड-1, पृ० 290-291.

28. ए०बी०कीथ, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड-3, पृ० 317.

29. डी०जी०तेंदुलकर, महात्मा, भाग-4, पृ० 66 और 113.

30. शंकर घोष(सं०), काँग्रेस प्रेसीडेन्सियल स्पीचेज, (कलकत्ता, 1976), पृ० 296-29

31. ए०एम०जैदी एण्ड एस०सी०जैदी(सं०), दि ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि इंडियन नेशनल काँग्रेस , खण्ड -11, पृ० 98-117.

32. ए.एम. जैदी, ए सेंचुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इंडिया, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रस्ताव, लखनऊ, अप्रैल, 1936.

33. वही, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रस्ताव, फैजपुर अधिवेशन, दिसम्बर 1936.

—

षष्ठम् अध्याय

प्रान्तीय स्वायत्तता

- प्रांतीय स्वायत्तता कार्यक्रम में भाग लेने का कांग्रेस का निर्णय
- कांग्रेस का चुनावी घोषणा-पत्र
- 1937 के विधानसभाओं के निर्वाचन
- 1937 के चुनावों में कांग्रेस की सफलतायें
- सरकार बनाने के विषय में कांग्रेस की नीति और उससे उठा विवाद
- प्रान्तीय स्वायत्तता कार्यक्रम को सफल बनाने में कांग्रेस की भूमिका
- कांग्रेस मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र ।

प्रान्तीय स्वायत्तता

असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने के बाद जिस प्रकार से कांग्रेस संवैधानिक राजनीति के पथ पर अग्रसर हुयी उसी प्रकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगित होने के उपरांत कांग्रेस ने प्रायः उसी प्रकार का रास्ता अपनाया । इसका अर्थ यह हुआ कि आन्दोलनात्मक संघर्ष के विकल्प के रूप में संवैधानिक परिवर्तनों के विषय में कांग्रेस लगातार प्रतिबद्ध रही । कांग्रेस की यह प्रतिबद्धता 1922 की तुलना में 1934 में और भी स्पष्ट रूप से दिखायी दी । दोनों स्थितियों में बहुत कुछ समानताएँ हैं, लेकिन फिर भी कांग्रेस का दृष्टिकोण पहले के अनुभव के बाद पर्याप्त व्यावहारिक दिखायी दिया । यहाँ तक कि गाँधी जी का दृष्टिकोण भी संवैधानिक राजनीति के प्रति वैसा कठोर अवरोध उत्पन्न करने वाला नहीं था, जैसा इसके पहले दिखाई दिया । 1939 में अपनी स्थिति सुस्पष्ट करते हुए गाँधी जी ने सर्वथा उचित ही कहा था -"मैं अभी भी जनता के लिए स्वराज प्राप्त करने के माध्यम के रूप में विधानसभाओं के माध्यम के प्रति अविश्वास रखता हूँ ।" लेकिन इसी स्थिति के साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा कि"कांग्रेस के प्रति गहरी निष्ठा रखने वाले लोगों को विश्वास का भी ध्यान रखना होगा और यह स्वीकारना होगा कि उनकी इच्छाओं के अनुसार कार्य करना उचित होगा ।"[1] संसदीय कार्यक्रम और कांग्रेस के कार्यक्रम में तालमेल बिठाने के विषय में 1934 में गाँधी जी ने लचीला रुख अपनाया । जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, बल्लभभाई पटेल

1934 और 1935 में कारागार में थे और कौंसिल प्रवेश के विषय में अपना मत व्यक्त करने की स्थिति में नहीं थे । अतः कौंसिल प्रवेश की राजनीति के पक्ष और विपक्ष जो भी कांग्रेस जन थे सभी ने गांधी की ओर देखा ।

1934 के मध्य तक ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को एक गैर कानूनी संस्था घोषित कर रखा था और नाम मात्र के लिए जून 1934 तक सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था । इसी समय कांग्रेस ने संवैधानिक राजनीति में भाग लेने का औपचारिक निर्णय मई 1934 की पटना की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में किया ।

औपचारिक रूप से कांग्रेस ने कौंसिल प्रवेश का निर्णय और संवैधानिक मार्ग अपनाने का निर्णय चाहे 1934 में क्यों न किया हो परन्तु इसके पक्ष में वातावरण एक वर्ष पूर्व से ही बनने लगा था । कांग्रेस का एक वर्ग सविनय अवज्ञा आंदोलन के औपचारिक स्थगन के पहले ही संवैधानिक मार्ग पर चलने की वार्ता कर रहा था, बैठकें कर रहा था और इस रास्ते पर चलने का विकल्प ढूँढ़ रहा था । सत्यमूर्ति और राजा जी इन दो तमिल नेताओं के अतिरिक्त दो राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं ने भी स्वराज-पार्टी को पुनर्जीवित करने के प्रयास किए । ये थे आसफ़ अली और मुख्तार अहमद अन्सारी । मुख्तार अहमद अंसारी ने दो टूक शब्दों में स्वराजियों के अड़ंगा डालने की नीति का विरोध करते हुए यह मांग की कि कांग्रेस

को पूरी तरह से कौंसिल कार्यक्रम में भाग लेना चाहिए । सत्ता की शक्ति प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए और प्रभावशाली भूमिका अपनाने में कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिए । 1933 और 1934 में प्राय: एक वर्ष तक ये सभी नेता तथा अन्य कांग्रेस जन अनौपचारिक बैठकें करते रहे और उन्होंने संवैधानिक राजनीति के महत्व को स्वीकारा ।[2]

1934 के मध्य में जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया तो कांग्रेस के सामने दो रास्ते थे । पहला यह था कि 1922 के समान कांग्रेस के अन्दर एक अलग स्वराज दल के गठन की अनुमति दे दी जाय और उसे चुनाव में भाग लेने तथा कौंसिल में जाने की छूट हो । दूसरा विकल्प यह था कि कांग्रेस स्वयं ही एक संगठन के रूप में संविधान में उपलब्ध सभी मार्गों का अनुसरण करें । कांग्रेस ने दूसरा रास्ता अपनाकर यह सिद्ध कर दिया कि 1922 की तुलना में 1934 में वह संवैधानिक राजनीति के प्रति अधिक निष्ठावान थी । उसे कौंसिलों की उपयोगिता का अनुमान हो गया था । उसे यह भी ज्ञात था कि 1935 का संविधान स्वीकृत हो जाने के उपरांत कांग्रेस को और भी कारगर भूमिका निभाने का अवसर होगा । कांग्रेस ने यह अवसर न खोने देने का निर्णय किया और औपचारिक रूप से अपने निर्णय की घोषणा करने का साहस भी जुटाया ।[3]

पटना की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में मई 1934 में कांग्रेस ने औपचारिक रूप से कौंसिल प्रवेश में भाग लेने का निर्णय किया।

इस अवसर पर गाँधी जी ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि कांग्रेस का एक बड़ा वर्ग इस मार्ग पर चलना चाहता था । ऐसी स्थिति में संसदीय कार्यक्रम के लिए सहमत होना ही उचित विकल्प था ।[4]

1930 से केन्द्रीय विधानसभा के लिए चुनाव और उपचुनाव नहीं हुए थे । ये निर्वाचन 1934 के समाप्त होते-होते आयोजित होने वाले थे। इस कारण कांग्रेस को इस विषय में निर्णय करने में शीघ्रता करनी पड़ी । कांग्रेस का यह निर्णय उसकी संवैधानिक नीति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ क्योंकि इससे यह प्रकट हो गया कि अब स्वराज दल के पुनर्जीवित करने के स्थान पर कांग्रेस के एक वर्ग को संवैधानिक मार्ग अनुसरण करने के पूरे अधिकार थे । इतिहासकारों ने यह विचार व्यक्त किया है कि गाँधी जी ने दक्षिणपंथी कांग्रेस जनों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया ।[5] इस कथन को वस्तु स्थिति कि उचित समीक्षा तो नहीं कहा जा सकता है परन्तु इससे यह प्रकट हो जाता है कि आन्दोलन के स्थगित होने के बाद गाँधी जी के सम्मुख सबसे बड़ा कार्य था - कांग्रेस में एकता बनाये रखना और कांग्रेस में एकता बनाये रखने के लिए इसके अन्दर अलग-अलग विचार रखने वाले लोगों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक हो गया ।

प्रांतीय स्वायत्तता कार्यक्रम में भाग लेने का कांग्रेस का निर्णय

इस सन्दर्भ में यह समझना कठिन नहीं होगा कि कांग्रेस ने प्रांतीय स्वायत्तता कार्यक्रम में भाग लेने का निर्णय क्यों किया ? 1935 के संविधान

द्वारा प्रांतीय प्रशासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के उपाय किये गये थे। इनमें से एक प्रमुख उपाय था - प्रांतीय स्वायत्तता । इसके पहले कि 1919 के अधिनियम में प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था लागू की गयी थी । जिसका अर्थ था- प्रांतों में एक प्रकार का दोहरा शासन प्रांतीय कार्य-कारिणी का एक भाग विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी था और दूसरा भाग विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी नहीं था । अनुभव से सिद्ध हुआ कि आंशिक उत्तरदायित्व स्थापित करने की यह योजना न कारगर सिद्ध हुयी और न कारगर सिद्ध हो सकती थी । अतः 1935 के संविधान द्वारा इसे संशोधित करके प्रांतों में स्वायत्त शासन पूरी तरह से लागू कर दिया गया ।[6] इसके अनुसार 11 प्रांतों में गर्वनरों की नियुक्ति करने की घोषणा की गयी और इन प्रांतों में प्रांतीय कार्यकारिणी को प्रांतीय विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी घोषित कर दिया गया । परन्तु इसका अर्थ केवल इतना हुआ कि प्रांतों के मंत्रिमण्डल प्रांतीय विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी थे । प्रांतीय गवर्नर इस उत्तरदायित्व से मुक्त था । उसे अपने विशेषाधिकार मिले हुए थे और इन विशेषाधिकारों द्वारा वह प्रांतीय कार्यकारिणी और प्रांतीय विधायिका पर अंकुश लगा सकता था ।[7] इससे यह सिद्ध होता है कि प्रान्तों में स्वायत्त शासन व्यवस्था लागू करने के उपरांत 1935 के संविधान निर्माताओं ने प्रान्तों में संसदीय प्रणाली के प्रति पूरा विश्वास नहीं किया और केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर को पर्याप्त शक्तिशाली बनाये रखा गया जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर वह हस्तक्षेप कर सकता

था । प्रांतीय विधानसभा के निर्णयों को उलट सकता था और अपने विशेषाधिकारों के उपयोग के लिए केवल गवर्नर जनरल के लिए उत्तरदायी था।[8]

यह घोषणा की गयी कि 1935 के संविधान के वे अंश अप्रैल 1935 से लागू किये जायेंगे जो प्रांतों के विषय में थे । केन्द्र में संघ की जो व्यवस्था की गयी थी तथा इसके विषय में जो प्रावधान किये गये थे, वे केवल पन्ने पर बने रहे तथा कभी भी प्रभावी नहीं किये जा सके । अतः कांग्रेस को 1935 के संविधान के अनुसार जो व्यवस्थाएँ की गयी, उनके विषय में भाग लेने का निर्णय करना था ।

कांग्रेस ने उन्नीस सौ छत्तीस के लखनऊ और फैजपुर अधिवेशनों में अपने "गैर समझौतावादी विरोध" को स्पष्ट रूप में व्यक्त किया था। जवाहरलाल नेहरू ने दोनों अधिवेशनों की अध्यक्षता करते हुए 1935 के अधिनियम को निराशापूर्ण कहा था । परन्तु यह सैद्धांतिक पक्ष था । सिद्धांत के रूप में कांग्रेस को 1935 के संविधान से अनेक शिकायतें थी । यह अधिनियम कांग्रेस की आशाओं के अनुरूप नहीं था । परन्तु 1936 से कांग्रेस ने सिद्धांत तथा व्यवहार में दो अलग-अलग नीतियों को अपनाया । सिद्धांत में तो कांग्रेस 1935 के अधिनियम का प्रबल विरोध करती रही परन्तु व्यवहार में उसने कौंसिल प्रवेश के पक्ष में निर्णय लिया । यह एक महत्वपूर्ण निर्णय था । लखनऊ के अधिवेशन में ही कांग्रेस ने स्वीकारा कि वह प्रांतीय कौंसिलों के चुनाव में भाग लेगी । 1936 के दूसरे अधिवेशन में अर्थात् फैजपुर अधिवेशन में

कांग्रेस ने अपना निर्वाचन घोषणा-पत्र जारी कर दिया जिससे प्रांतों में होने वाले निर्वाचनों में भाग लेने की उसकी इच्छा प्रकट हो गयी । इससे यह सिद्ध होता है कि कांग्रेस ने संवैधानिक परिवर्तनों के महत्व को समझा और संवैधानिक परिवर्तनों में भाग लेने के अवसर को न छोड़ने का निर्णय किया और पूरी शक्ति से आगामी निर्वाचन में शक्ति प्रदर्शन करने का बीड़ा उठाया ।

कांग्रेस का चुनावी घोषणा-पत्र

लखनऊ की अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने यह कार्य एक छोटी उपसमिति को सौंपा था । जिसके सदस्य थे - बल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, मूलाभाई देसाई और गोविन्द बल्लभ पन्त । स्पष्ट है कि इस समिति में तथाकथित दक्षिणपंथी कांग्रेस जनों का पर्याप्त प्रभाव था । इस समिति ने कुछ ही समय में अपनी योजना को तैयार किया, जो प्रारूप इस समय तैयार किया गया, उसमें चुनावी घोषणा पत्र कहीं-कहीं मौन रहा जैसे कि प्रारूप में कहीं यह नहीं कहा गया कि कांग्रेस 1935 के अधिनियम को समाप्त करने के लिए कार्य करेगी ।[9]

कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में जवाहरलाल नेहरू ने उपसमिति के प्रारूपों को पूरी तरह से बदल डाला और बाद में जो चुनावी घोषणा पत्र जारी किया गया उसमें नेहरू के विचारों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । विचारों में, शब्दों में और मुद्दों के विषय में कई स्थान पर नेहरू ने अपनी

ओर से परिवर्तन किये । सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन नये अधिनियम के प्रति अपनाये जाने वाले रूख के विषय में था । उपसमिति ने "अस्वीकार" शब्द का प्रयोग 1935 के अधिनियम के विषय में कहीं नहीं किया । नेहरू के प्रभाव में जो घोषणा पत्र जारी किया गया उसमें 1935 के अधिनियम को "अस्वीकार" करने की बात कम से कम स्पष्ट रूप से की गयी । इससे यह प्रकट है कि नेहरू के प्रभाव से यह बार-बार कहा गया कि कांग्रेस 1935 के अधिनियम को अस्वीकार करती थी और इसका विरोध कर रही थी, इसके लिए कांग्रेस संघर्ष करेगी और इसको समाप्त करने के सभी उपाय करेगी । इस प्रकार 1935 के अधिनियम को पूरी तरह से अस्वीकृत करते हुए कांग्रेस ने अपना निर्वाचन घोषणा पत्र निर्गत किया ।[10]

कांग्रेस समाजवादी नेता नेहरू के रुख से अत्यन्त प्रसन्न दिखाई दिये क्योंकि वह पहले से ही यही दृष्टिकोण बनाये हुए थे । इस वस्तु-स्थिति में यह प्रश्न उठता है क्या नेहरू के विचारों में और उपसमिति के सदस्यों के विचारों में टकराहट थी तथा कोई विरोध रहा ? क्या निर्वाचन घोषणा पत्र को लेकर कोई रस्साकशी हुयी ? इसका उत्तर स्वयं नेहरू ने दिया है । उनका कहना है कि उन्हें यह जानकर अत्यन्त अचम्भा हुआ कि निर्वाचन घोषणा पत्र के विषय में उनकी कार्यकारिणी के सदस्य बिना किसी बहस के सहमत हो गये अर्थात् परस्पर विरोधी विचार होने के बाद भी उपसमिति के सदस्यों ने निर्वाचन घोषणा पत्र के स्वरूप के विषय में कोई विवाद नहीं खड़ा किया ।[11] बाद में पटेल ने भी प्रायः इसी स्थिति की

पुष्टि करते हुए महात्मा गांधी को यह पत्र लिखते हुए सूचित किया "कांग्रेस घोषणा पत्र बिना किसी विवाद के तैयार किया गया और स्वीकृत हो गया । सभी ने सहयोग दिया और एक दूसरे के प्रति विश्वास जगाया । मैं जवाहरलाल की जितनी भी प्रशंसा करूँ, थोड़ी है ।" प्रायः इसी प्रकार के उद्गार राजा जी के भी थे । इससे यह दिखायी देता है कि कांग्रेस के वरिष्ठ नेता आवश्यकता पड़ने पर किसी भी तर्क-वितर्क को पीछे करके विकल्प स्वीकारने की शक्ति रखते थे ।

कांग्रेस के घोषणा पत्र की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थी -

चुनावी घोषणा पत्र के आरम्भ में स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रति निष्ठा व्यक्त की गयी और यह कहा गया कि स्वतंत्रता के प्रति यह संघर्ष क्रमशः जारी रखा जायेगा । इस घोषणा पत्र की दूसरी विशेषता थी जनता की निर्धनता को और उसकी आर्थिक स्थिति की समीक्षा की गयी और इसके प्रति असन्तोष व्यक्त किया गया । तीसरे कांग्रेस ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि वह"भारत पर लादे गये अधिनियम को अस्वीकार करती है ।"

कांग्रेस ने अपने घोषणा पत्र में यह स्पष्ट किया कि उसके सदस्य कौंसिल में क्यों जा रहे थे ? इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया "नये अधिनियम के अधीन विधानसभाओं में कांग्रेस जन इस कारण जा रहे हैं कि वे इस अधिनियम से सहयोग नहीं करेंगे अपितु वे इसका विरोध करेंगे तथा वे इसे समाप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहेंगे ।"[12] इसके पश्चात् कांग्रेस

ने अपने आर्थिक कार्यक्रम को प्रस्तुत किया जो बहुत कुछ कराची कार्यक्रम पर आधारित था ।

यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कांग्रेस घोषणा पत्र एक महत्वपूर्ण विषय पर मौन था । कांग्रेस ने यह स्पष्ट नहीं किया कि चुनाव में विजय प्राप्त करने के उपरांत वह मंत्रिमण्डल बनाकर सरकार बनायेगी अथवा नहीं । सरकार में सम्मिलित होने या न सम्मिलित होने का निर्णय बाद में करने का अस्वाभाविक तरीका अपनाये जाने से कांग्रेस की नीति की अस्पष्टता उजागर होती है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्वराज-दल द्वारा अपनायी गयी अड़ंगा डालने की नीति को कांग्रेस नहीं अपना रही थी । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भविष्य में कांग्रेस सरकार बनाने के लिए तैयार हो सकती थी । यह निर्णय निर्वाचन के बाद किया गया ।

1937 के विधान सभाओं के निर्वाचन

1935 के अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुरूप 1937 के आरम्भ में प्रांतों में विधान सभाओं के निर्वाचन आयोजित करने का निर्णय लिया गया। यह उल्लेखनीय है कि कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों ने उत्साह से विधान सभाओं के चुनावों में भाग लेने का निर्णय लिया । अतः 1919 के अधिनियम को लागू करने में जो आरम्भिक अड़चने आयी थी, वे 1935 के अधिनियम को लागू करते समय नहीं दिखाई दी । सभी सैद्धांतिक विरोधों

के बाद जब कांग्रेस चुनाव में भाग लेने को तैयार हो गयी तो इसका स्पष्ट कारण था – संवैधानिक परिवर्तनों में उसकी आस्था । 1935 के अधिनियम का सबसे महत्वपूर्ण भाग प्रान्तीय स्वायत्तता थी और कोई भी संवैधानिक व्यवस्था तभी कारगर मानी जा सकती है जब उसे व्यावहारिक रूप से लागू किया जाय और सभी राजनीतिक दल उसमें सहयोग करें ।

सबसे पहले कांग्रेस के दृष्टिकोण पर विचार करना उचित होगा। लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में प्राय: सभी उपस्थित कांग्रेस प्रतिनिधियों ने एक स्वर से चुनाव में भाग लेने का पक्ष लिया ।

अत: चुनाव में भाग लेने के विषय में कोई विवाद नहीं था । विवाद का मुख्य मुद्दा बाद में उठ सकता था । यह सभी लोग जानते थे और मुख्य मुद्दा था – निर्वाचन के बाद सरकार में सम्मिलित होना अथवा सम्मिलित न होना । कांग्रेस के तीन प्रमुख नेताओं ने निर्वाचन के संचालन में और इसकी व्यवस्थाओं में प्रमुख भूमिका निभाई । ये थे – बल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी इन्होंने एक संसदीय मण्डल का गठन कर दिया जो चुनाव की देखरेख करता था । एक हजार से भी अधिक कांग्रेस के सदस्यों को अलग-अलग विधानसभाई सीटों से चुनाव लड़ने के लिए चुनने के कार्य को इसी संसदीय मण्डल ने किया। सदस्यों के चुनाव के समय यह ध्यान रखा गया कि ये सदस्य बाद में कठिनाइयाँ

न उत्पन्न करें ।

1937 के निर्वाचनों की व्यवस्था से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस का दक्षिण पंथी वर्ग कांग्रेस पर हावी रहा । इससे यह प्रकट हो जाता है कि 1936 के बाद जैसे ही चुनावी प्रक्रिया और संवैधानिक राजनीति का क्रम आरम्भ हुआ , दक्षिणपंथी विचारधारा वाले कांग्रेसियों का प्रभाव संगठन पर बढ़ा । जी०डी० बिड़ला के पत्र व्यवहार से इस स्थिति का आंकलन स्पष्ट हो जाता है । उन्होंने इस प्रकार लिखा- "सभी कुछ ठीक-ठाक चल रहा है । चुनावों का नियंत्रण बल्लभभाई का ग्रुप करेगा । कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति में मेरे विचार से राजा जी को स्थान देना एक महत्वपूर्ण कदम होगा ।"[13] इसी टिप्पणी को प्रायः स्वीकार करते हुए पटेल ने इस प्रकार लिखा-" हमने लखनऊ में कुछ भी नहीं खोया है । सब कुछ सुरक्षित है ।"[14] जहाँ दक्षिण पंथी कांग्रेसी नेतृत्व प्रसन्न था । वही कांग्रेस का वामपक्ष उत्साहित नहीं था । आचार्य नरेन्द्रदेव, एक मात्र ऐसे कांग्रेसी समाजवादी थे, जो संसदीय मण्डल में सम्मिलित किए गये थे । जवाहरलाल नेहरू की स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं थी क्योंकि उन्हें भी दक्षिणपंथियों के सहयोग से चुनाव का नेतृत्व करना पड़ा ।

1937 के निर्वाचन के अध्ययन के लिए दो प्रान्तों पर विशेष ध्यान देकर स्थिति का मूल्यांकन किया जा सकता है । सुविधा के लिए हम उत्तर प्रदेश और मद्रास प्रांतों को विस्तृत विवेचन के लिए चुन रहे हैं । इन दो

प्रांतों की राजनीतिक स्थिति से 1937 में अन्य प्रांतों की स्थितियाँ समझी जा सकती है । उत्तर प्रदेश का विधानसभायी चुनाव अनेक कारणों से महत्वपूर्ण हो गया । इनमें से एक कारण यह भी था कि उत्तर प्रदेश में मुस्लिम सीटों की संख्या देश की कुल सीटों की तुलना में काफी अधिक थी । संपूर्ण देश में दो सौ अट्ठाइस मुस्लिम सीटों में से 66 सीटें उत्तर प्रदेश में थी ।[15] आरम्भ से ही यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 1936 में मुस्लिम लीग पर्याप्त कमजोर थी । इसका संगठन बहुत कमजोर हो चुका था और इसके अनेक सदस्य ऐसे थे जो कांग्रेस के निकट थे । खलीकुल जमा का उदाहरण देकर यह कहा जा सकता है कि उनके कांग्रेस कार्य समिति से लगातार सम्बन्ध रहे थे । जवाहर लाल नेहरू ने तो यहाँ तक लिखा है - कि "मुस्लिम लीग की ओर से जिन लोगों ने चुनाव लड़ा अगर उनके ऊपर पर्याप्त दबाव डाला जाता तो वे कांग्रेस के टिकट से भी लड़ सकते थे । चूँकि कांग्रेस ने पर्याप्त दबाव नहीं डाला, इसकारण वे लीग की ओर चले गये । यह मानते हुए कि यह एक सामान्य बात थी ।"[16]

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच कम से कम उत्तर प्रदेश में कितने निकट के सम्बन्ध थे, इसका प्रमाण जवाहरलाल नेहरू के पत्र से मिल जाता है । यही कारण है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सदस्य एक -दूसरे के विरोध में केवल दो सीटों पर खड़े हुए थे । सीटों में यदि केवल दो सीटों पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग का सामना हुआ तो इससे इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि इन दो राजनीतिक दलों ने यदि चुनावी तालमेल

नहीं किया तो कम से कम प्रत्यक्ष मुकाबला भी नहीं किया । उत्तर प्रदेश की इस स्थिति का एक विशेष कारण था कांग्रेस का मुख्य विरोधी दल मुस्लिम लीग न होकर जमींदारों का दल था । जिसे राष्ट्रीय एग्रीकल्चरल दल के रूप में गठित किया गया था, जिसने कांग्रेस को पराजित करने का स्वप्न देखा था । अतः उत्तर प्रदेश में मुख्य मुकाबला कांग्रेस और जमींदारों के दल के मध्य था न कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच में ।

मद्रास में चुनाव की बागडोर राजा जी के हाथ में थी । राजा जी पूर्ण रूप से संवैधानिक राजनीति के समर्थक हो गये और पूरे उत्साह से उन्होंने इस उद्देश्य से मद्रास के चुनाव में भाग लिया कि वे आगे चलकर मुख्यमंत्री बन सके । कांग्रेस ने अपनी नीति को स्पष्ट नहीं किया था । परन्तु फिर भी अनेक नेताओं ने भविष्य में सरकार बनाने के बारे में विचार-विमर्श शुरू कर दिया था । मद्रास प्रान्त में चुनाव कांग्रेस और जस्टिस पार्टी के बीच में था । जस्टिस पार्टी का गठन कांग्रेस को चुनौती देने के लिए किया गया था । यह एक ब्राह्मण विरोधी दल था जिसे चुनाव के समय अपनी स्थिति मजबूत करने का अवसर मिला । मद्रास प्रांत के चुनाव में जस्टिस पार्टी उस प्रकार से संगठित नहीं थी जिससे वह कांग्रेस का सामना कर सकती । इस कारण राजा जी को चुनाव में कोई विशेष विरोध का सामना नहीं करना पड़ा और चुनाव में सफलता के बाद वे अपना प्रभाव बनाये रख सकें ।

1937 के चुनावों में कांग्रेस की सफलताएँ

जवाहरलाल नेहरू के चमत्कारी नेतृत्व ने उनके प्रभावशाली भाषणों ने तूफानी दौड़ों ने, कांग्रेस की स्थिति को अनेक प्रांतों में पर्याप्त सुदृढ किया । इसके अतिरिक्त देश के मतदाताओं पर कांग्रेस का अच्छा प्रभाव था । वे इसे एक संकल्प से कार्य करने वाला दल मानते थे । अतः चुनाव के अवसर पर मतदाताओं ने कांग्रेस का व्यापक समर्थन किया । प्रांतीय विधान सभाओं के चुनावों में कांग्रेस को भारी सफलता मिली ।[17] ।। प्रांतों में से कांग्रेस को 6 प्रांतों में बहुमत मिला । ये प्रांत थे - उत्तर प्रदेश, मद्रास बिहार सी॰पी॰, उड़ीसा, बम्बई । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रांतों में कांग्रेस सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में उभरी थी । अतः आवश्यकता पड़ने पर वह छः प्रांतों के अतिरिक्त दो-तीन अन्य प्रांतों में भी सरकार बना सकती थी । उत्तर प्रदेश में कुल 228 सीटों में से कांग्रेस को 133 पर विजय मिली । स्वतंत्र रूप से चुनाव लड़ने वाले मुसलमानों को 30 सीटों पर, मुस्लिम लीग को 27 सीटों पर, नेशनल एग्रीकल्चरिष्ट को 21 सीटों पर और अन्य स्वतंत्र उम्मीदवारों को दस सीटों पर विजय मिली ।[18] मद्रास प्रांत में केवल दो सौ पन्द्रह सीटों में एक सौ उनसठ सीटों पर कांग्रेस विजयी रही जिससे उसकी निर्णायक विजय स्पष्ट हो जाती है । बिहार में कांग्रेस को 152 सीटों में से 91 सीटों पर विजय मिली । यदि कुल संख्या को देखा जाय तो एक हजार पाँच सौ पच्चासी सीटें लेजिस्लेटिव असेम्बली में थी इनमें से कांग्रेस को 706 सीटों पर सफलता मिली । मुस्लिम लीग को 103सीटों

पर । शेष अन्य छोटे दलों को अन्य प्रान्तों में अलग-अलग प्रकार से सफलतायें मिली ।

प्रान्तीय विधानसभा के लिये हुये चुनावों ने कांग्रेस की प्रतिष्ठा को चार चाँद लगा दिये । अब यह राजनीतिक दल जन प्रतिनिधि होने का उचित रूप से दावा कर सकता था । इसका एक प्रभाव यह भी पड़ा कि प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकार का रूख कांग्रेस के प्रति बदला । चुनाव के परिणामों से यह सिद्ध हो गया कि प्रान्तीय स्वायत्तता को सफल बनाना तभी संभव हो सकता है जबकि कांग्रेस सहयोग के लिये तैयार हो । कांग्रेस के सहयोग के बिना 1935 का अधिनियम प्रान्तों में लागू नहीं किया जा सकता था । केन्द्र की व्यवस्थायें पहले ही स्थगित हो चुकी थी और यदि प्रान्तीय स्वायत्तता भी खटाई में पड़ जाती तो उन्नीस सौ पैंतीस की समूची व्यवस्था कागज में रह जाती । यही कारण है कि न केवल कांग्रेस को बल्कि सरकार को भी चुनाव के बाद भी सम्पूर्ण स्थिति को नये सिरे से सोचना विचारना पड़ा ।

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने मार्च 1935 में विधान सभा के चुनाव की समीक्षा करते हुए " कांग्रेस की पुकार का जोरदार समर्थन करने के लिए देशवासियों के प्रति आभार व्यक्त किया " । कांग्रेस की अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने कहा कि वह यह मानती है कि यह कांग्रेस की नीतियों और उसके कार्यक्रम की स्वीकृति थी । अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने पुनः अपने पहले के मत को दोहराते हुये कहा कि " नया

अधिनियम जनता द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया है ।" जनतांत्रिक तरीके से लोगों ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए यह मत व्यक्त किया कि वे अपना संविधान स्वयं बनायेंगें । अतः चुनाव के उपरान्त भी कांग्रेस ने नये संविधान को हटाये जाने की माँग की ।[19]

1935 क आधनियम के अनुसार केवल दस प्रतिशत देशवासियों को ही मत देने का अधिकार था और इसके अतिरिक्त मतदाता साम्प्रदायिक आधार पर अलग-अलग रूप से मतदान कर सकते थे । इस समय का मतदान एक विशेष प्रकार का था । जवाहरलाल नेहरू इस मतदान में छाये रहे और उन्होंने कांग्रेस की विजय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।' आरम्भ से ही नेहरू जी ने सैंवधानिक समस्या को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने की नीति अपनायी । चुनाव के पूर्व ही उन्होंने चुनाव में भाग लेने के विकल्प को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार कहा ।" चुनाव में हमारे भाग लेने का मुख्य उद्देश्य यह है कि कांग्रेस लाखों मतदाताओं के पास अपना सन्देश ले जाना चाहती थी और उन लोगों को भी सन्देश देना चाहती थी, जिनको मतदान का अधिकार है और उन्हें भविष्य के अपने कार्यक्रम तथा नीतियां बताना चाहती है और जनता को यह बताना चाहती है कि हम उन्हीं के लिये हैं, उन्हीं के कारण हैं और सामाजिक, आर्थिक बोझ को हटाने के लिये उनका समर्थन चाहते हैं ।"[20] एक जनसभा को संबोधित करते हुये जवाहर लाल नेहरू का यह अंश भी इसी तथ्य को उजागर करता है-"मैं आपसे चाहता हूँ कि यदि आप स्वतंत्रता के पक्ष में मतदान नहीं करना चाहते

हैं तो कांग्रेस को एक भी मत न दीजिये"[21] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने चुनाव को आधार बनाकर संवैधानिक प्रश्नों को जनता के सम्मुख रखा और उनका विश्वास जीतकर ही संवैधानिक परिवर्तनों की ओर बढ़ने का संकल्प लिया ।

1937 के आरम्भिक महीनों के चुनावों में लगभग तीन करोड़ सात लाख लोगों को मतदान का अधिकार था । सीमित अर्थों में सही लेकिन भारत में पहली बार सम्पूर्ण देश में एक व्यापक चुनावी वातावरण था, जिसमें बार-बार 1935 के अधिनियम के प्रति कांग्रेस की आपत्तियों पर और भविष्य की संवैधानिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने की कांग्रेस की माँग पर बार-बार चर्चा हुयी ।

सरकार बनाने के विषय में कांग्रेस की नीति और उससे उठा विवाद

प्रान्तीय विधान सभा के चुनावों में असाधारण सफलता प्राप्त करने के उपरान्त कांग्रेस को एक महत्वपूर्ण निर्णय करना शेष था । चुनावों से पहले उसने स्पष्ट नहीं किया कि वह चुनाव में जीतने के बाद सरकार बनायेगी अथवा नहीं । कांग्रेस का यह निर्णय भविष्य के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि पदभार ग्रहण करना और 1935 के अधिनियम के अनुसार प्रान्तों में सरकार बनाने का स्पष्ट अर्थ होता था- साम्राज्यवाद के साथ समझौता और यह कांग्रेस के अन्तिम लक्ष्यों के विपरीत दिखाई पड़ रहा था । स्पष्ट है कांग्रेस एक ऐसी संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत,

जो गैर-जनतांत्रिक थी, उत्तरदायी सरकार बनाकर बिना पर्याप्त शक्ति के शासन करने पर वाध्य होती । लेकिन सिक्के का दूसरा पहलू यह भी था कि यदि चुनाव जीतने के बाद कांग्रेस उन प्रान्तों में सरकार न बनाती, जहाँ उसका बहुमत था, तो इसका यह अर्थ लगाया जाता कि कांग्रेस जिम्मेदारी से शासन करने से कतरा रही थी । अतः कांग्रेस ने बीच का रास्ता अपनाया । उसने शर्तों के साथ और संवैधानिक व्यवस्था की अड़चनों को प्रकट करते हुये सरकार बनाने के पक्ष में मत दिया ।

चुनाव के उपरान्त अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की महत्वपूर्ण बैठक सत्रह मार्च 1937 को दिल्ली में आयोजित हुयी और इसमें पदभार ग्रहण करने के विषय में महत्वपूर्ण फैसला किया गया । इस समिति ने अपने निर्णय के पक्ष में यह प्रस्ताव पारित किया ।" अखिल भारतीय कांग्रेस समिति उन प्रान्तों में सरकार बनाने की स्वीकृति प्रदान करती है, जहाँ विधानसभाओं में कांग्रेस को बहुमत है, वशर्ते कि मंत्रिमण्डल तभी बनाया जायेगा जब विधानसभा में कांग्रेस दल का नेता इस बात से सन्तुष्ट हो जाय और सार्वजनिक रूप से कह सके कि गवर्नर अपने हस्तक्षेप करने के विशेषाधिकार का प्रयोग न करेगा तथा संवैधानिक गतिविधियों के बारे में मंत्रियों के परामर्श की अनदेखी नहीं करेगा " ।[22] कांग्रेस के इस निर्णय से एक असाधारण स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसके दूरगामी प्रभाव हो सकते थे । मूल प्रश्न यह था कि उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम द्वारा ऐसा आश्वासन गवर्नर द्वारा दिया जा सकता था अथवा नहीं ।

प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल गठित करने का प्रश्न तीन महीनों तक उलझा रहा । एक ओर ब्रिटिश सरकार, वायसराय और भारत सचिव पहली अप्रैल उन्नीस सौ सैंतीस से नये अधिनियम को लागू करने पर कटिबद्ध थे और दूसरी ओर कांग्रेस नेतृत्व अपनी माँग पर अड़ गया । अतः कुछ महीनों तक संवैधानिक रस्साकसी चलती रही । ब्रिटिश सरकार ने सभी प्रान्तों में नयी संवैधानिक व्यवस्था को लागू करते हुये मंत्रिमण्डल का गठन किया । इसमें वे प्रान्त भी सम्मिलित थे-जहाँ कांग्रेस का बहुमत था । ब्रिटिश सरकार भी यह भलीभाँति जानती थी कि मंत्रिमण्डलों का गठन तो किया जा सकता था लेकिन प्रान्तीय विधान सभाओं के सहयोग के बिना ऐसी सरकारें कुछ महीनों तक ही चल सकती थी और वित्त विधेयक के अस्वीकृत हो जाने पर उन्हें त्यागपत्र देना पड़ सकता था । इन कठपुतली सरकारों के सहारे, न तो वायसराय, न प्रांतीय गवर्नर और न भारत सचिव यह दावा कर सकते थे कि प्रान्तीय स्वायत्तता का प्रयोग ईमानदारी से शुरू किया गया था । अतः यह अनिवार्य था कि कांग्रेस द्वारा निर्धारित शर्त के विषय में कोई बीच का मार्ग निकाल दिया जाय । ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि बहुत पीछे हटने को तैयार नहीं थे और सार्वजनिक रूप से गर्वनर के अधिकारों के प्रयोग न किये जाने का आश्वासन नहीं देना चाहते थे, परन्तु कांग्रेस को समझौता वार्ता तक लाने का कोई रास्ता ढूढ़ना भी अति आवश्यक था और यही काम तीन महीने के पश्चात् जून 1937, में गवर्नर जनरल द्वारा दिये गये आश्वासन ने किया । बाइस जून 1937 को तत्कालीन

गवर्नर जनरल लार्ड लिनलिथगो ने एक वक्तव्य प्रसारित करके संवैधानिक गतिरोध को दूर किया । उसने अपने वक्तव्य में कहा कि संविधान के प्रयोग के लिये कांग्रेस द्वारा माँगा गया आश्वासन अनिवार्य नहीं था क्योंकि इसमें कोई सत्यता नहीं थी कि गवर्नर "मंत्रिमण्डलों के नित्यप्रति के प्रशासन में हस्तक्षेप करेगा" । वायसराय ने वक्तव्य में दूसरी बात यह कही कि विशेष उत्तरदायित्व के अधीन प्रान्तीय गवर्नर के अधिकार सीमित थे और उसी सीमित क्षेत्र में रहकर वह उन अधिकारों का प्रयोग करेगा । इसी प्रकार से वायसराय ने अपनी ओर से यह विश्वास दिलाया कि पहले से कोई शर्त निर्धारित किये बिना यदि कांग्रेस प्रान्तों में मंत्रिमण्डल गठित कर लेगी तो प्रान्तीय सरकारों के मामलों में प्रान्तीय गवर्नर केवल असाधारण स्थिति में ही हस्तक्षेप करेगें । वैसे तो वायसराय ने केवल संविधान की परिभाषा ही की, परन्तु उसके वक्तव्य से स्पष्ट हो गया कि तत्कालीन ब्रिटिश सरकार यह चाहती थी कि प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारे गठित की जाय और वे काम भी करें ।[23]

कांग्रेस द्वारा मंत्रिमण्डल गठित करने के प्रश्न के विषय में यदि तत्कालीन वायसराय इतना चिन्तित दिखाई दिया तो इसका कारण यह था कि सम्पूर्ण 1935 का अधिनियम असफल होता दिखाई दे रहा था । संघीय व्यवस्था पहले ही चरमरा गयी थी और यह स्पष्ट हो चुका था कि संघ को बनाना प्रायः असंभव था । अतः 1935 के अधिनियम का एक महत्वपूर्ण अंश देशी रियासतों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया था । यदि इसके पश्चात् प्रान्तों में भी स्वायत्त शासन व्यवस्था लागू न होती तो

इसका अर्थ होता 1935 के अधिनियम का अस्वीकृत होना । ब्रिटिश सरकार ऐसी स्थिति से बचना चाहती थी । इसीलिये उसने प्रान्तीय स्वायत्तता के प्रयोग को सफल बनाने में अधिक अड़चने (कठिनाइयाँ) पैदा नहीं की ।

वायसराय के आश्वासन ने कांग्रेस को अवसर प्रदान किया । जुलाई उन्नीस सौ सैंतीस में वर्धा में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई और उसने सरकार के प्रस्ताव पर विचार किया । जैसी कि आशा की जा रही थी, कांग्रेस ने बदली हुई परिस्थितियों में सरकार बनाने का निमंत्रण स्वीकार कर लिया । अपने प्रस्ताव में कांग्रेस कार्य समिति ने आशा प्रकट की कि प्रान्तीय गवर्नर अपने अधिकारों का प्रयोग करके मंत्रिमण्डलों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगें ।[24] तीन वर्ष और तीन महीने से कांग्रेस के अन्दर इस प्रश्न पर विवाद हो रहा था कि कांग्रेस 1935 के अधीन सरकार बनाये अथवा नहीं । अन्ततः यह विवाद जुलाई 1937 को समाप्त हुआ । कांग्रेस के सत्ता ग्रहण करने के सबसे प्रमुख पक्षधर स्वयम् गांधी जी थे और इसके सबसे प्रबल विरोधी जवाहरलाल नेहरू थे । इस प्रकार कांग्रेस के अन्दर एक अजीब स्थिति दिखाई दी । बहुमत गाँधी जी के साथ था और कुछ लोग नेहरू के साथ थे । कांग्रेस अनुशासन का महत्वपूर्ण पहलू यह दिखाई दिया कि जब बहुमत सत्ता ग्रहण करने के पक्ष में हुआ तो नेहरू ने भी इसका समर्थन कर दिया । लेकिन नेहरू ने अपने विचारों में कोई परिवर्तन नहीं किया । वे निरन्तर कांग्रेस की नीति से असन्तुष्ट रहे और इसी कारण डॉ॰ एस॰ गोपाल ने टिप्पणी करते हुये नेहरू के विषय में लिखा है कि वे " कांग्रेस की धुन से अलग दिखाई दिये ।[25] जवाहरलाल की निराशा उनके सार्वजनिक वक्तव्य

से भी दिखाई देती है- " कार्य समिति का हर निर्णय उचित ही है, जिस तरह से राजा कोई गलती नहीं करता है, उसी तरह से कांग्रेस कार्य समिति कोई गलती नहीं कर सकती"। अपने वक्तव्य में जवाहरलाल ने यह भी कहा कि सत्ता ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं है कि कांग्रेस ने गुलामी के संविधान को स्वीकार कर लिया है। इसका अर्थ यह था कि कांग्रेस संघ व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष करने का मार्ग ढूढ रही थी।[26]

1937 से 1939 तक के दो वर्षों में जवाहरलाल नेहरू प्राय: कांग्रेस की मुख्य धारा से कटे रहे और उन्होंने प्रान्तों में मंत्रिमण्डलों के गठन के विषय में कोई निर्णायक भूमिका नहीं निभाई। यह उल्लेखनीय है कि जो संसदीय बोर्ड बना और जो कांग्रेस हाई कमान की ओर से कार्य करता रहा, नेहरू उसके सदस्य नहीं थे। जवाहर लाल इस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे और फिर भी वे संसदीय बोर्ड के सदस्य भी नहीं बने। इससे उनकी निराशा स्पष्ट होती है। यह और बात है कि उन्होंने अपने विरोध को बहुत प्रभावी ढंग से न तो प्रकट किया और न उन्होंने कांग्रेस के लिए कोई अड़चने खड़ी की।

जुलाई 1937 में ग्यारह प्रान्तों में से सात प्रान्तों में कांग्रेस ने सरकारें बनाई और पहली बार कांग्रेस ने प्रान्तीय प्रशासन का नेतृत्व करना स्वीकार किया। बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, सी०पी०, बिहार और उड़ीसा में कांग्रेस ने अपनी सामर्थ्य पर मंत्रिमण्डल गठित किये और उत्तर-पश्चिमी-सीमा प्रान्त में भी कांग्रेस ने कुछ औपचारिकताओं के बाद सत्ता

ग्रहण की । बाद में अक्टूबर माह में कांग्रेस और अन्य दलों के सहयोग से आसाम में भी मंत्रिमण्डल बनाया गया था ।

यह एक नया प्रयोग था, जो राजनीतिक दल लम्बे समय तक स्वतंत्रता-संघर्ष में व्यस्त था, उसने 1935 के अधीन अवसर मिलने पर प्रशासनिक उत्तरदायित्व ग्रहण किया और यह प्रदर्शित किया कि कांग्रेस प्रशासन चलाने की क्षमता भी रखती थी ।

कांग्रेस द्वारा मंत्रिमण्डल बनाने के प्रश्न से एक प्रश्न इतिहास में आवश्यकता से ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया । बार-बार उत्तर प्रदेश में मंत्रीमण्डल के गठन में इस सवाल को इसी कारण उठाया गया । मौलाना आजाद ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है ।"जवाहर लाल नेहरू के कार्य के कारण उत्तर प्रदेश में मुस्लिम लीग को जीवन दान मिला । भारतीय राजनीति के सभी विद्यार्थी जानते हैं कि उत्तर प्रदेश से लीग का पुनर्गठन आरम्भ हुआ । जिन्ना ने परिस्थिति का लाभ उठाया और जो विरोध आरम्भ किया, उसने अन्ततः पाकिस्तान को जन्म दिया ।"[27] मौलाना आजाद का कथन है कि उत्तर प्रदेश मंत्रिमण्डल में कांग्रेस मंत्रिमण्डल के बहुमत होने के बाद भी जब दो मुस्लिम लीग सदस्यों ने मंत्रिमण्डल में सम्मिलित होना चाहा और कांग्रेस की ओर से इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया गया तो कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से हाथ मिलाने का एक अन्तिम सुनहरा अवसर खो दिया । यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि कांग्रेस

को उत्तर प्रदेश विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त था । ऐसी स्थिति में यदि उसने मुस्लिम लीग को मंत्रिमण्डल में सम्मिलित नहीं किया तो यह यह कोई अस्वाभाविक घटना नहीं थी । इसके जो भी दूरगामी परिणाम निकले हो । उस समय के कांग्रेसी नेताओं ने परिस्थिति के अनुसार कार्य किया ।

प्रान्तीय स्वायत्तता कार्यक्रम को सफल बनाने में कांग्रेस की भूमिका

जुलाई 1937 से लगभग दो वर्ष तक कांग्रेस ने सात प्रान्तों में प्रत्यक्ष रूप से तथा एक अन्य प्रान्त में अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता संभाली । इस अवधि के कांग्रेस के शासन का आंकलन इस दृष्टि से किया जा सकता है कि जो राजनीतिक दल लम्बे समय से संघर्षरत था, उसने अवसर मिलने पर प्रशासनिक तरीके से संवैधानिक उपायो को कितना सफल बनाया । इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है ।

प्रान्तीय स्वायत्तता के प्रावधानों को सफल बनाने के लिये कांग्रेस नेतृत्व ने पहला प्रमुख निर्णय यह किया कि एक केन्द्रीय शीर्षस्थ समिति अनौपचारिक रूप से कार्य करने लगी । जिसे हाई कमान कहा जा सकता है । इस हाई कमान के सदस्यों ने स्वयं किसी भी प्रान्त में पद भार ग्रहण करने के स्थान पर प्रान्तीय प्रशासन को निर्देश देना और अन्तर्विरोधों को दूर करने की भूमिका निभाई । जवाहरलाल नेहरू, बल्लभभाई पटेल,

मौलाना आजाद और राजेन्द्र प्रसाद ने हाई कमान की भूमिका निभाई । इसके अतिरिक्त गाँधी ने लगातार प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों को परामर्श देने का क्रम जारी रखा । इससे एकरूपता बनी रही और हर एक मंत्रिमण्डल समान कार्यक्रम लागू करता रहा ।[28]

1937 से 1939 के दौरान प्रान्तीय स्वायत्तता को सफल बनाने के उद्देश्य से कांग्रेस मंत्रिमण्डल के कार्यों के संवैधानिक पहलुओं में से कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है ।

1. 1935 के अधिनियम का विरोध और संविधान सभा के गठन की माँग

जैसे ही कांग्रेस ने सत्ता ग्रहण की, उसके बाद प्रायः प्रत्येक प्रांतीय विधानसभा ने अपनी संविधान सभा के माँग को प्रस्ताव के रूप में पारित किया । प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों के निर्देश के अनुसार यह प्रस्ताव कांग्रेस के अधीन शासन वाले प्रान्तों में स्वीकृत हुआ । प्रान्तीय विधानसभाओं ने यह प्रस्ताव पारित किया ।

"इस असेम्बली का विचार है कि उन्नीस सौ पैंतीस का भारत सरकार अधिनियम किसी भी तरह से राष्ट्र की इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता और पूर्णरूप से असन्तोषजनक है, क्योंकि इसे भारत के लोगों को स्थाई रूप से परतन्त्र बनाये रखने के उद्देश्य से बनाया गया है । यह असेम्बली यह माँग करती है कि अधिनियम को निरस्त करके इसके स्थान पर एक नया संविधान बनाया जाय जिसका उद्देश्य भारत को स्वतन्त्र करना हो,

जो ऐसी संविधान सभा द्वारा बनाया जाय जो वयस्क मताधिकार द्वारा गठित हो और लोगों को अपनी इच्छा और अभिलाषा के अनुकूल विकास करने का पूर्ण अवसर प्रदान करे ।[29]

2. प्रस्तावित संघ का विरोध

जहाँ एक ओर कांग्रेस ने 1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित प्रान्तों में नये संवैधानिक प्रयोग का समर्थन किया वही 1935 के संविधान के दूसरे सबसे महत्वपूर्ण अंश का इसने विरोध किया । यह प्रस्ताव था- संघ का गठन । अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के कलकत्ता अधिवेशन में अक्टूबर 1937 में प्रस्तावित संघ के विषय में कांग्रेस ने विचार किया । इसमें कांग्रेस ने अपनी स्थिति स्पष्ट की और इसके कारण बतायें कि प्रान्तों में सत्ता ग्रहण करने के बाद भी कांग्रेस संघ के गठन का विरोध कर रही थी । कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित करके 1935 के अधिनियम के संघ की कल्पना का विरोध प्रकट किया । अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपना "पूर्ण विरोध" प्रकट करते हुये प्रस्ताव पारित किया ।[30]

3. राजनीतिक बन्दियों को मुक्त करने का प्रश्न

सत्ता ग्रहण करने के बाद कांग्रेस ने यह घोषणा की कि वह सभी राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर देगी । अनेक प्रान्तों में उसे इस कार्य में कोई अड़चन नहीं आयी । परन्तु उत्तर प्रदेश और बिहार में इस प्रश्न को लेकर गवर्नर और मंत्रिमण्डल में मतभेद उत्पन्न हो गया जिससे एक संवैधानिक संकट खड़ा हो गया ।

फरवरी 1938 में उत्तर प्रदेश की जेलों में पन्द्रह राजनीतिक कैदी और विहार की जेलों में तेईस राजनीतिक कैदी बन्द थे । जिसमें कुछ ने भूख हड़ताल कर दी थी । इन दोनों प्रान्तों के गवर्नरों का कहना था कि वे इन राजनैतिक कैदियों को मुक्त करने को तभी तैयार होंगे जब उनके विषय में तथ्यों से वे सन्तुष्ट हो जायें । प्रान्तीय गवर्नरों का कहना था कि यह उनका विशेष उत्तरदायित्व था कि वे प्रान्तों में शान्ति और व्यवस्था को प्रभावित करने वाले निर्णयों पर ध्यान दें । जब उत्तर प्रदेश और विहार के मुखयमंत्रियों के इस निर्णय को, कि राजनीतिक बन्दी मुक्त कर दिये जाय, प्रान्तीय गवर्नरों ने अस्वीकार कर दिया तो फरवरी 1938 में इन दोनों प्रान्तों की सरकारों ने त्यागपत्र दे दिया । इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि गवर्नर के विशेषाधिकारों के प्रश्न को लेकर कांग्रेस कितनी सतर्क थी और संसदीय प्रणाली के अनुसार उसे मान्य नहीं था कि गवर्नर उनके कार्यों में रोड़ा अटकाये । यह सैंवधानिक उलझन कुछ समय के लिये बनी रही । फरवरी 1938 के हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन ने इस विषय पर विचार करके एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया । जिसमें यह कहा गया कि प्रान्तीय गवर्नर नित्य प्रति के प्रशासन में हस्तक्षेप करने का प्रयास कर रहे थे । प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि मंत्रिमण्डल गठित करने के पूर्व ही कांग्रेस ने अपना कार्यक्रम घोषित कर दिया था, जिसमें राजनीतिक बन्दियों की मुक्ति का कार्यक्रम भी सम्मिलित था । अतः कांग्रेस इस प्रश्न पर पीछे हटने को तैयार नहीं थी ।

गांधी जी ने इस प्रश्न पर अपना सार्वजनिक वक्तव्य प्रकाशित किया । उन्होंने 1935 के अधिनियम के प्रावधानों का उल्लेख किया और कहा कि अप्रत्यक्ष रूप से गवर्नर जनरल प्रशासनिक मामलों में हस्तक्षेप करने की कोशिश कर रहे थे जो अधिनियम की भावना के प्रतिकूल था ।[31] इस विवाद से यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस मंत्रिमण्डलात्मक प्रणाली की भावना को उसी प्रकार से अपनाना चाहती थी जिस प्रकार से ब्रिटेन में इसे अपनाया जा रहा था और प्रतिनिधियों के कार्यों में गवर्नर के हस्तक्षेप के विरूद्ध थी ।

कुछ समय के पश्चात् यह संकट टल गया और फरवरी 1938 में बिहार और उत्तर प्रदेश दोनों प्रान्तों में कांग्रेस ने पुनः सत्ता ग्रहण कर ली । राजनीतिक बन्दी उसकी इच्छानुसार छोड़ दिये गये । देखने को तो यह प्रश्न सामान्य ही था लेकिन इसके पीछे महत्वपूर्ण सिद्धान्त छिपे हुये थे और इस कारण कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने पीछे हटने की अपेक्षा पद त्याग करना उचित समझा ।

भूमि सुधार के कार्य

कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन के जो अनेक कार्य किये उनमें मुख्य कार्य था- अलग-अलग प्रान्तों में भूमि सुधार करना । इनमें सबसे महत्वपूर्ण भूमि सुधार अधिनियम उत्तर प्रदेश में पारित किया

गया जिसका उद्देश्य था किसानों के अधिकारों को सुरक्षित करना और जमींदारों पर अंकुश लगाना । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक दशकों से उत्तर प्रदेश में जमींदार और तालुकेदार राजनीति पर छाये हुये थे । प्रांतीय धारासभाओं में भी उनके पर्याप्त प्रतिनिधि थे और 1937 के चुनाव में उन्होंनें संगठित होकर एक राजनीतिक दल बनाया था । अतः स्वाभाविक ही था कि कांग्रेस में एक ओर जमींदारों के पंख काटने की कोशिश की और दूसरी ओर किसानों को उनके अधिकार दिलायें ।कांग्रेस द्वारा सत्ता ग्रहण करने का यह स्वाभाक्कि परिणाम था ।

औद्योगिक विकास

इसी प्रकार से कांग्रेस ने अनेक प्रान्तों के आर्थिक विकास की ओर भी ध्यान देने का क्रम आरम्भ किया । पहली बार योजनाबद्ध तरीके से औद्योगिक प्रगति के प्रयास किये गये । मजदूर और मिलमालिकों के विवादों को सुलझाया गया और सार्वजनिक लाभ की दृष्टि से अनेक कार्य किये गये ।

कांग्रेस मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र

अट्ठाइस महीने तक सत्ता ग्रहण करने के पश्चात् नवम्बर 1939 में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने आठों प्रान्तों से त्यागपत्र दे दिया और इस प्रकार सकारात्मक प्रशासनिक उत्तरदायित्व निभाने का कांग्रेस का कार्य अल्पकालिक ही सिद्ध हुआ ।

यह विचार करना होगा कि ऐसी स्थिति किस प्रकार उत्पन्न हुयी और कांग्रेस ने क्यों यह कदम उठाने का निर्णय लिया । मुख्यतः राजनीतिक मानचित्र द्वितीय महायुद्ध की घोषणा से परिवर्तित हुआ, जैसे ही सितम्बर 1939 में ब्रिटिश सरकार ने द्वितीय महायुद्ध में भाग लेने की घोषणा की तो कांग्रेस के सम्मुख नये प्रश्न उठ खड़े हुये । यह महायुद्ध मुख्यतः यूरोपीय शक्तियों के विपरीत यूरोप में ही चल रहा था । अतः भारत को इसमें सम्मिलित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी । परन्तु वायसराय ने अपनी ओर से निर्णय करते हुये भारत को युद्ध में सम्मिलित करने की घोषणा कर दी । ऐसी स्थिति में उपनिवेश के रूप में भारत को भी युद्ध में सम्मिलित कर दिया गया । कांग्रेस को यह स्थिति स्वीकार नहीं थी । उसका कहना था कि भारत को युद्ध में सम्मिलित करने का निर्णय जनप्रतिनिधियों, राजनीतिक दलों तथा भारत के लोगों की इच्छानुसार करना चाहिये । बाइस अक्टूबर 1939 को कांग्रेस कार्य समिति ने वक्तव्य जारी करके युद्ध में सम्मिलित होने की ब्रिटेन की घोषणा का विरोध किया । कांग्रेस के वक्तव्य का एक अंश इस प्रकार था-" वायसराय का वक्तव्य पुरानी साम्राज्यवादी नीति की उपज है । यह समिति वायसराय के वक्तव्य को दुर्भाग्यपूर्ण मानती है । वर्तमान परिस्थितियों में कांग्रेस कार्य समिति ब्रिटेन को कोई सहायता नहीं कर सकती है, क्योंकि इसका अर्थ होगा साम्राज्यवादी नीति का समर्थन जिसका विरोध करना कांग्रेस का मुख्य लक्ष्य है । पहले कदम के रूप में यह समिति कांग्रेस मंत्रिमण्डलों से त्याग-पत्र देने का आग्रह करती है " ।[32]

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के समय में भारत सरकार की नीति को लेकर कांग्रेस ने विरोध के रूप में प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने का सुझाव दिया । यहीं से यह दिखने लगा कि यह मंत्रिमण्डल अधिक समय तक कार्य नहीं करेंगें और सभी प्रान्तों में त्यागपत्र की तैयारी होने लगी । कांग्रेस ने यह नीति अपनायी कि ब्रिटिश सरकार के युद्ध के उद्देश्य के विरोध का प्रस्ताव प्रान्तीय विधानसभाओं में पारित किया जाय । विरोध के अतिरिक्त कांग्रेस युद्ध के प्रति अपनी नीति को भी स्पष्ट करें । शीघ्र ही प्रत्येक प्रांतीय विधानसभा में प्रस्ताव पारित किया गया । जिसके मुख्य अंश इस प्रकार है-" यह विधान सभा दुःख प्रकट करती है कि ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटेन और जर्मनी के बीच आरम्भ हुये युद्ध में भारत को सम्मिलित करने का निर्णय भारतीयों की इच्छा को जाने बिना कर लिया और ऐसे कानून बना लिये जिससे प्रान्तीय सरकारों के अधिकार कम हो गये । यह विधान-सभा भारत सरकार के द्वारा ब्रिटिश सरकार से आग्रह करती है कि युद्ध के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुये आवश्यक है कि भारतीयों का सहयोग प्राप्त किया जाय और भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र माना जाय । एक ऐसा स्वतंत्र राष्ट्र जिसे अपना संविधान बनाने का अधिकार हो । इस दृष्टि से तुरन्त उपाय करना अनिवार्य था ।"[33]

प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव से यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस के उद्देश्यों और ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर था । ब्रिटिश सरकार सभी तरीकों से भारत में स्थापित उसकी राजनीतिक

सत्ता का लाभ उठाना चाहती थी जबकि कांग्रेस का कहना था कि यदि भारत को युद्ध में सम्मिलित किया जाय तो महत्वपूर्ण संवैधानिक परिवर्तन करके भारतीयों को स्वतंत्रता के अधिकार दे दिये जाय अथवा स्वशासन करने के उपाय तुरन्त शुरू कर दिये जाय ।

यह विवाद 1939 से आरम्भ होकर अनेक वर्षों तक चलता रहा और कांग्रेस मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र इस क्रम काआरम्भ मात्र था ।

प्रान्तीय स्वायत्तता का प्रयोग अल्पकालिक सिद्ध हुआ लेकिन इसने सिद्ध कर दिया कि एक उत्तरदायी राजनीतिक दल के रूप में कांग्रेस चुनाव जीतने में सक्षम थी और मंत्रिमण्डलों का गठन करके अपनी शर्तों पर 1935 के संविधान को कारगर बनाने को तैयार थी । कांग्रेस के अन्दर संविधान के विषय में अथवा संवैधानिक राजनीति के विषय में परस्पर विरोधी मत थे । परन्तु बहुमत इस पक्ष में था कि संवैधानिक राजनीति का अनुसरण किया जाय । तभी तो प्रान्तीय स्वायत्तता का लाभ उठाकर कांग्रेस ने मंत्रिमण्डलों का गठन किया और अनेक प्रशासनिक कार्यों को प्रारम्भ किया । इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा पर और प्रभाव बढ़ा । अन्ततः कांग्रेस ने त्यागपत्र देकर और मंत्रिमण्डलों से अलग होकर यह प्रमाणित कर दिया कि वह सिद्धान्तों की लड़ाई लड़ रही थी । उसके सम्मुख भविष्य था । स्वतंत्रता प्राप्ति का लक्ष्य था । अपना संविधान तैयार करके उसे अपनाने की तीव्र इच्छा थी । आगामी सात-आठ वर्षों में संवैधानिक उपायों का कांग्रेस का संघर्ष जारी रहा और उसकी प्रतिबद्धता ने अन्ततः उसे ऐसा अवसर प्रदान कर दिया जिसकी उसे तलाश थी ।

सन्दर्भ

1. इण्डियन एन्युअल रजिस्टर, 1934, खंड एक, पृष्ठ 290-291.
2. मार्गरेट डोव, फारफिटेड फ्यूचर, दि कांफिलिक्ट ओवर कांग्रेस मिनिस्ट्रीज इन ब्रिटिश इण्डिया 1933-1937 चैतन्य पब्लिकेशंस, (दिल्ली, 1987), पृष्ठ 49-50.
3. वही, पृष्ठ 70-80.
4. ए.एम.जैदी (सं.), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, पटना, कांग्रेस वर्किंग कमेटी का प्रस्ताव, जून 1934.
5. बी.बी.मिश्रा, दि इण्डियन पॉलिटिकल पार्टीज, (दिल्ली, 1976), पृष्ठ 304.
6. ए.सी.बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खंड तीन, पृष्ठ 137.
7. वही, पृष्ठ 139.
8. वही, पृष्ठ 141-143.
9. मार्गरेट डोव, फारफिटेड फ्यूचर, दि कांफिलिक्ट, ओवर कांग्रेस मिनिस्ट्रीज इन ब्रिटिश इण्डिया 1933-1937, (दिल्ली, 1987), पृष्ठ 183.
10. वही, पृष्ठ 185.
11. जवाहरलाल नेहरू, यूनिटि ऑफ इण्डिया, (लन्दन, 1941), पृष्ठ 139.

12. ए.एम.जैदी (सं.), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, पृष्ठ 168.

13. जी. डी. बिड़ला, इन दि शैडो ऑफ महात्मा, (कलकत्ता, 1955), पृष्ठ 110.

14. मार्गरेट डोव, फारफिटेड फ्यूचर, दि कांफिलिक्ट ओवर कांग्रेस मिनिस्ट्रीज इन ब्रिटिश इण्डिया 1933-1937, (दिल्ली, 1987), पृष्ठ 173.

15. ऊषारानी बन्सल, यू.पी. अन्डर प्राविन्शल ऑटोनामि, 1937-1937-1939, (वाराणसी, 1988), पृष्ठ 101.

16. एस. गोपाल, जवाहरलाल नेहरू, ए वॉयोग्राफी, पृष्ठ 240.

17. ऊषारानी बन्सल, यू.पी. अन्डर प्राविन्शल ऑटोनामि, 1937-1939, (वाराणसी, 1988), पृष्ठ 9.

18. वही, पृष्ठ 9.

19. ए.एम. जैदी (सं."), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, ए.आई.सी.सी. का प्रस्ताव., मार्च 1937, पृष्ठ 174.

20. इण्डियन एन्युअल रजिस्टर, खंड एक, 1937, पृष्ठ 142.

21. सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू, नागपुर में 25 अप्रैल 1936 को नेहरू का भाषण

22. ए.एम.जैदी (सं.), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, ए.आई.सी.सी. का प्रस्ताव, 17 और 18 मार्च 1937.

23. ए.सी.बनर्जी, दि कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खंड तीन, पृष्ठ 166-169.

24. कांग्रेस कार्य समिति का प्रस्ताव, 7 जुलाई 1937, ए.एम.जैदी, ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, पृष्ठ 191.

25. एस, गोपाल, जवाहरलाल नेहरू, खण्ड एक, पृष्ठ 222.

26. वही, पृष्ठ 222.

27. ए.के. आजाद. इण्डिया विन्स फ्रीडम्, पृष्ठ 143-145.

28. बी.बी.मिश्रा, दि इण्डियन पॉलिटिकल पार्टीज,पृष्ठ 328-335.

29. ए.एम. जैदी (सं.), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, पृष्ठ 178-179.

30. ए.आई.सी.सी. का प्रस्ताव, 29 और 31 अक्टूबर 1937, पूर्वोक्त, पृष्ठ 178.

31. डी.जी.तेंदुलकर, महात्मा, खंड चार, पृष्ठ 216.

32. इण्डियन एन्युअल रजिस्टर, 1939,खण्ड दो, पृष्ठ 215.

33. ए.एम.जैदी एण्ड एस.जी. जैदी(सं.), दि ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खंड बारह, पृष्ठ 255.

सप्तम् अध्याय

द्वितीय महायुद्धकालीन संवैधानिक गतिरोध

- 1939 में संवैधानिक गतिरोध की स्थिति
- 1940 में रामगढ़ का कांग्रेस अधिवेशन
- महायुद्ध के समय संवैधानिक सुधार के प्रश्न पर समझौता न होना
- अगस्त 1940 का प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा अस्वीकृत
- क्रिप्समिशन प्रस्ताव और कांग्रेस दृष्टिकोण
- 1945 का शिमला समझौता
- कैबिनेट मिशन योजना और कांग्रेस का दृष्टिकोण
- अन्तरिम सरकार का गठन ।

1939 से 1947 के मध्य के आठ वर्ष भारतीय राजनीति के निर्णायक सिद्ध हुये क्योंकि इस अवधि में महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये और भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई । एक नये मुस्लिम राज्य पाकिस्तान का जन्म हुआ तथा हमेशा के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़े भारत से उखड़ गयी । 1939 में किसी ने कल्पना नहीं की थी कि राजनीतिक घटना चक्र इतनी तेजी से घूमेगा । 8 सितम्बर 1939 में आरम्भ हुये महायुद्ध ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिये ऐसी गम्भीर चुनौतियाँ उत्पन्न कर दी कि उसकी सभी नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आना निश्चित हो गया । 1939 में तत्कालीन वायसराय लिनलिथगो ने भारत सचिव को लिखा था "कि अभी हमें लम्बे समय तक भारत में शासन करना होगा ।"[1] वायसराय के इस कथन में उसके दृष्टिकोण का केन्द्र-बिन्दु छिपा हुआ था और केवल वायसराय ही नहीं अपितु समूची ब्रिटिश नीति का यही केन्द्र-बिन्दु था कि किस प्रकार लम्बे समय तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था को बनाये रखा जा सकता था।

जहाँ एक ओर ब्रिटिश शासक अपनी सत्ता को बनाये रखने की योजना बना रहे थे वहीं कांग्रेस ने द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ को नये दृष्टि-कोण से देखा । कांग्रेस ने यह माँग की कि संवैधानिक परिवर्तनों की गति को नयी दिशा दी जाय । अल्पकालीन महत्वपूर्ण सुधार करके भारतीयों को प्रशासन में सम्मिलित किया जाय और दूरगामी संवैधानिक परिवर्तनों के बारे

में पक्के आश्वासन दिये जाय । स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार धीरे-धीरे संवैधानिक सुधारों की सोच रही थी। क्योंकि उसका उद्देश्य लम्बे समय तक भारत मे शासन करना था परन्तु कांग्रेस मन्दगति से सुधारों की योजना से निराश हो चुकी थी और महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों पर दृष्टि लगाये हुये थे। ऐसी स्थिति में कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के मध्य विरोध या गतिरोध उत्पन्न होना स्वाभाविक था। यही कारण है कि द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके एक वर्ष उपरान्त भी लम्बी संवैधानिक वार्ताओं और सुझावों के उपरान्त भी ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के मध्य कोई समझौता न हो सका ।

1939 में संवैधानिक गतिरोध की स्थिति

1939 के समाप्त होते-होते यह स्पष्ट होने लगा कि 1935 का अधिनियम उन संवैधानिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता था जो अचानक उत्पन्न हो गयी थी । दूसरे शब्दों में ही 1935 का संविधान निरर्थक सा दिखाई देने लगा था और इसके स्थान पर कोई नया अधिनियम या संविधान बनाने की बात आरम्भ हो गयी । ऐसा इस कारण हुआ क्योंकि 1935 के अधिनियम में वर्णित संघीय योजना सभी पक्षों द्वारा नकार दी गयी थी तथा अस्वीकृत कर दी गयी थी । संघीय व्यवस्था के अन्त का अर्थ यह हुआ कि 1935 के संविधान की केन्द्रीय प्रणाली केवल कागज में ही बनी रही ।

उसे लागू नहीं किया जा सका । इसके अतिरिक्त जब कांग्रेस के मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया तो प्रान्तीय शासन व्यवस्था के कारगर होने पर भी प्रश्न चिन्ह लग गया । मात्र तीन प्रान्तों में, जो मुस्लिम बहुल प्रान्त थे, अर्थात् बंगाल, पंजाब और सिन्ध, कुछ सीमा तक उत्तरदायी सरकारें बनी हुयी थी। इस प्रकार एक संवैधानिक संकट की स्थिति 1939 के समाप्त होते-होते दिखाई देने लगी जबकि केन्द्रीय शासन में कोई परिवर्तन नहीं आया और प्रान्तीय शासन कारगर होता नहीं दिखाई दिया ।

प्रश्न यह था कि द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने के पश्चात् भारत सरकार और ब्रिटिश सरकार किस प्रकार से आगे बढ़ रही थी । इस विषय में निर्णय लेने में वायसराय ने अति शीघ्रता की और उसने बिना किसी हिचक के यह घोषणा कर दी कि भारत को युद्ध में सम्मिलित किया जा रहा है । जिस दिन द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ उसी दिन रात को की गयी वायसराय की यह घोषणा कांग्रेस के लिये एक चुनौती थी क्योंकि न तो कांग्रेस नेताओं से कोई परामर्श किया गया और न केन्द्रीय विधान-सभा से । वायसराय यह चाहता था कि घोषणा कर देने के बाद वह कांग्रेस नेताओं से अनुमोदन प्राप्त करेगा और इसी दृष्टि से उसने तुरन्त गांधी जी से शिमला में भेंट की । इसी से यह प्रदर्शित हुआ कि कांग्रेस के प्रमुख नेता और नेहरू के बीच में आगामी रणनीति अपनाने के विषय में मतभेद थे,

क्योंकि जहाँ एक ओर गांधी जी सरकार के प्रति पर्याप्त नरम दिखाई दिये वहीं नेहरू सरकार को सहायता देने के पूर्व संवैधानिक परिवर्तनों के विषय में स्पष्ट आश्वासन चाहते थे । गांधी जी का कहना था कि उनकी सहानु- भूति ब्रिटेन तथा फ्रान्स के प्रति थी और अपने पत्र हरिजन में उन्होंने स्पष्ट लिखा "जो भी सहायता ब्रिटेन की की जाय, वह बिना शर्त की जाय ।" यह एक प्रकार से कांग्रेस की परम्परावादी नीति का अनुसरण था जिसके अनुसार कठिनाई के समय ब्रिटिश सरकार की सहायता करने की कांग्रेस की नीति थी, परन्तु जवाहरलाल नेहरू को यह नरम नीति पसन्द नहीं आयी और उन्होंने तर्क दिया कि कांग्रेस शर्तों के साथ ब्रिटेन की सहायता करे । नेहरू का दृष्टि- कोण भावनात्मक न होकर व्यावहारिक था और उन्हें यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि महायुद्ध लम्बे समय तक चलने जा रहा है जिसमें कांग्रेस को तभी सहयोग करना चाहिये जब ब्रिटिश सरकार ठोस संवैधानिक उपाय करने को तुरन्त तैयार हो । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ• एस• गोपाल का मत है कि कांग्रेस के दृष्टिकोण का निर्धारण "गांधी जी ने नहीं बल्कि जवाहर लाल नेहरू ने किया ।"[2] ऐसी स्थिति में कांग्रेस की ओर से यह कहा गया कि कांग्रेस उसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार को सहायता कर सकती थी जब युद्ध के उद्देश्यों को घोषित किया जाय और जिन उद्देश्यों के लिये ब्रिटिश सरकार युद्ध कर रही थी, उन्हें भारत में भी लागू किया जाय । कांग्रेस कार्य समिति ने एक वक्तव्य में कहा कि

यह एक विरोधाभास होगा कि भारत ऐसे युद्ध में सम्मिलित हो, जहाँ दूसरे देशों में प्रजातन्त्र की स्थापना का प्रयास हो लेकिन स्वयं भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना के लिये कोई प्रयास न हो ।[3] कांग्रेस ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुये यह कहा कि भारत को अविलम्ब एक स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर देना चाहिये और उसकी स्थिति में सभी संभावित परिवर्तन यथाशीघ्र करने के उपाय कर दिये जाय ।[4] कांग्रेस ने प्रथम लक्ष्य स्वतन्त्रता को बनाया और 1939 से ही इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये संवैधानिक परिवर्तन की मांग की । समय-समय पर कांग्रेस ने अपने इन उद्देश्यों पर जोर दिया ।

1940 में रामगढ़ का कांग्रेस अधिवेशन

इन परिस्थितियों में मार्च 1940 में आयोजित रामगढ़ कांग्रेस अधिवेशन महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ । इस अधिवेशन में एक ओर यह निश्चित किया गया कि किन संवैधानिक उपायों पर जोर दिया जाय और दूसरी ओर यह भी तय किया गया कि ब्रिटिश सरकार से टक्कर लेने के उद्देश्य से किस सीमा तक संघर्ष करना उचित होगा । मौलाना आजाद इस अधि-वेशन के अध्यक्ष बने और आगामी अवधि में कई वर्षों तक उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता की । बदले हुए वातावरण का अनुमान उनके अध्यक्षीय भाषण से लगाया जा सकता है । जिसमें उन्होंने कहा - "भारतीय स्वतन्त्रता साम्राज्य-

वाद की परिधि में नहीं रह सकती और औपनिवेशिक अथवा इसी प्रकार की कोई और स्थिति साम्राज्यवादी संगठन के अन्दर भारत में लागू होना हमें स्वीकार्य नहीं है । यह इस राष्ट्र की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होगा और लम्बे समय तक भारत को ब्रिटिश नीतियों और आर्थिक संगठन से बांधे रखेगा।"[5] इसके अतिरिक्त कांग्रेस अध्यक्ष ने यह शब्द भी कहे - "भारतीय संविधान स्वतंत्रता, प्रजातन्त्र और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर आधारित होना चाहिये ।"[6] स्पष्ट है कि कांग्रेस अपने स्वतन्त्रता के लक्ष्य को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर रही थी । यही पर एक और महत्वपूर्ण बात कही गयी जो कांग्रेस नीति का आधार बिन्दु बनी । एक प्रस्ताव पारित करते हुये कांग्रेस ने कहा -"केवल भारत के लोग ही अपने संविधान के स्वरूप का निर्णय कर सकते हैं । एक संवैधानिक सभा द्वारा जो वयस्क मताधिकार पर आधारित हो ।" पिछले कुछ वर्षों से कांग्रेस इस प्रश्न पर जोर देती आ रही थी कि उसकी भूमिका एक सलाहकार की न होकर निर्णय करने वाले की हो । दूसरे शब्दों में कांग्रेस अधिवेशन ने यह मांग की कि भविष्य में जो भी संविधान बने, वह भारतीयों द्वारा चुनी गयी सभा द्वारा बनाया जाय । इसमें किसी भी गोलमेज सम्मेलन के प्रयास को अस्वीकार कर दिया गया और यह भी कह दिया कि संविधान के निर्माण में ब्रिटिश सरकार का कोई हस्तक्षेप न हो । 1940 से 1947 तक कांग्रेस इन्हीं सिद्धान्तों पर अडिग रही थी।

महायुद्ध के समय संवैधानिक सुधार के प्रश्न पर समझौता न होना

द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से अनेक गम्भीर संवैधानिक प्रश्न उठ खड़े हुये । कांग्रेस का कहना था कि जो ब्रिटिश सरकार पूरे विश्व में प्रजातन्त्र के पक्ष में और मानवाधिकार दिलाने के लिये युद्ध में सम्मिलित हुयी थी, उसे यह अधिकार भारतवासियों को भी अविलम्ब देना चाहिये । इसी लक्ष्य से कांग्रेस ने मांग की कि ब्रिटिश सरकार स्पष्ट रूप से घोषित करे कि "युद्ध के उसके लक्ष्य क्या है, प्रजातन्त्र, समाजवाद और नयी व्यवस्था के विषय में विशेषरूप से उसके क्या विचार हैं ? उन्हें भारत में किस प्रकार लागू किया जायेगा और वर्तमान अवधि में लागू किया जाय ।"[7] कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से पूछा कि "क्या वह साम्राज्यवाद की समाप्ति के लिए तैयार है और भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र का दर्जा देगी । एक ऐसा स्वतन्त्र राष्ट्र जिसकी नीतियाँ उसके नागरिकों द्वारा तय की जाय । इस वक्तव्य में कांग्रेस ने अपना मत व्यक्त किया - "वास्तविक परीक्षा किसी सिद्धान्त की यह होगी कि इन्हें अभी किस प्रकार लागू किया जाता है क्योंकि वर्तमान का निर्णय ही हमारे आज के कार्यों को दिशा देगा और भविष्य को इंगित करेगा ।"[8] जवाहर लाल नेहरू लिखते हैं कि उस समय भी "हम इच्छुक थे कि कोई ऐसा मार्ग निकल आये जिससे हम लोग युद्ध प्रयासों में सम्मिलित हो और जन उत्साह को प्रेरित करें तथा साथ ही हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति की तीव्र इच्छा को माना जाय ।"[9] कांग्रेस के वक्तव्यों से तथा जवाहर लाल

नेहरू और अन्य कांग्रेसी नेताओं के कथन से यह स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के प्रयासों में हाथ बंटाने के लिए कांग्रेस तभी तैयार थी जबकि ब्रिटिश सरकार की ओर से तुरन्त आवश्यक संवैधानिक उपाय किये जाय, नीतिगत घोषणायें की जाय और ब्रिटिश सरकार यह आश्वासन दें कि वह भारत को स्वतन्त्रता देने को तैयार है । कांग्रेस तत्कालीन उपायों और दूरगामी उपायों पर आधारभूत परिवर्तनों की मांग कर रही थी तथा ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार युद्ध के समय कोई निर्णायक संवैधानिक परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं थी । फरवरी 1940 में भी तत्कालीन वायसराय ने भारत सचिव को गोपनीय ढंग से यही लिखा कि अभी यही उचित होगा कि "वर्तमान समय में हम चुपचाप बैठे रहें और कांग्रेस के पीछे दौड़ने का उपक्रम न करें ।"[10] वायसराय का यह कथन यह स्पष्ट करता है कि युद्ध आरम्भ होने के छः महीने बाद भी वह परम्परागत नीति का अनुसरण कर रहा था और युद्ध के समय उठाई गयी कांग्रेस की मांगों के विषय में निर्णय करने में अक्षम था अथवा उसने निर्णय करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की ।

अगस्त 1940 का प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा अस्वीकृत

महायुद्ध आरम्भ होने के प्रायः एक वर्ष पश्चात् अगस्त 1940 में वायसराय ने संवैधानिक उपायों के विषय में एक आधिकारिक घोषणा की ।

जिसे अगस्त घोषणा कहा जाता है । इस घोषणा की पृष्ठभूमि पर विचार करते समय यह उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों के लिये संकट बढ़ रहा था । महायुद्ध में उसकी कठिनाइयाँ बढ़ रही थी और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री जब द्वितीय महायुद्ध को ठीक से संचालित न कर सका तो उसने त्यागपत्र दे दिया और विसंटन चर्चिल ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री बने । ऐसी स्थिति में कांग्रेस के लिये कोई आशाजनक स्थिति बनती हुयी नहीं दिखाई दी थी क्योंकि विन्सटन चर्चिल प्रतिक्रियावादी व्यक्ति थे । साम्राज्यवाद के पोषक थे और उनके नेतृत्व में संवैधानिक सुधारों की अधिक आशा नहीं की जा सकती थी । तत्कालीन स्थिति का विवेचन करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने कहा है – "उनके नेतृत्व में हम ब्रिटेन से अधिक आशा नहीं कर सकते थे ।"[11] इस राजनीतिक परिवेश में गवर्नर जनरल की घोषणा से कोई बड़ा संविधान होने की आशा नहीं थी । फिर भी यह घोषणा इसलिये महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच बढ़ते हुए मतभेद को दूर करने का यह कमजोर उपाय सिद्ध हुआ । एकऐसा उपाय जो चतुराई से भरा हुआ था, जिसमें साम्राज्यवादी ब्रिटिश शक्ति की चालाकी दिखाई दी, स्वार्थ दिखाई दिये । ईमानदारी नहीं । यह पहला संकेत था कि ब्रिटिश सरकार संवैधानिक प्रश्न को सुलझाने के स्थान पर उलझा रही थी । कांग्रेस के विरोधियों का मनोबल बढ़ाकर भारत पर अपनी पकड़ मजबूत करने की कोशिश कर रही थी।

अगस्त घोषणा के द्वारा वायसराय ने यह प्रस्ताव किया कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जितनी भी जल्दी हो सकेगा भारत को डोमिनियन स्टेटस प्रदान कर दिया जायेगा अर्थात् उसी प्रकार का शासन भारत में भी लागू होगा जैसा आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि उपनिवेशों में लागू था और जिसके विषय में प्रायः चर्चा दो दशकों से की जा रही थी। इस घोषणा का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि वायसराय ने यह स्वीकारा कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यथाशीघ्र एक प्रतिनिधि संविधान निर्माण संस्था का गठन किया जायेगा । अगस्त घोषणा का यह महत्त्वपूर्ण अंश था कि भावी संविधान के निर्माण का उत्तरदायित्व केवल भारतीयों को सौंपने की नीति स्वीकार कर ली गयी । लेकिन अगस्त घोषणा में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि ऐसी संविधान निर्माण संस्था एक प्रकार का गोलमेज सम्मेलन होगा अथवा पूर्ण रूप से संविधान सभा ।

इन दो महत्त्वपूर्ण संवैधानिक निर्णयों द्वारा कुछ सीमा तक कांग्रेस के विरोध को शान्त करने की कोशिश की गयी परन्तु जैसी कि ब्रिटिश नीति थी तथा जैसा कि संवैधानिक उपायों के साथ हमेशा किया गया, कांग्रेस के विरोधियों को भी उत्साहित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी गयी । यहीं से वह दुःखदायी अध्याय शुरू हुआ जिसमें कांग्रेस की संवैधानिक मांगों का मुकाबला करने के लिये राजनैतिक शक्तियों में फूट डालने की नीति अपनायी गयी । इससे भी कांग्रेस का दृष्टिकोण ब्रिटिश सरकार के प्रति

लगातार कठोर होता गया । अगस्त घोषणा में यह कहा गया कि "ब्रिटिश सरकार कभी ऐसा नहीं सोच सकती कि वह ऐसी सरकार को भारत की शान्ति एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपेगी, जिसमें भारत के राष्ट्रीय जीवन के लिये शक्तिशाली तत्वों की भागीदारी न हो ।"[12] इस घुमावदार शब्दावली के द्वारा मुस्लिम लीग, अल्पसंख्यकों और राजा-महाराजाओं को यह विश्वास दिलाया जा रहा था कि उनकी इच्छा के बिना ब्रिटिश सरकार कांग्रेस की मांगों को नहीं मानेगी । कांग्रेस की राजनीतिक शक्ति को कमजोर बनाने और भारत पर अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए अंग्रेजों ने कांग्रेस विरोधी शक्तियों को बढ़ावा देने का क्रम लगातार आगे भी जारी रखा ।

यह तो दूरगामी सुझाव थे जिनकी छाया तत्कालीन राजनीति पर पड़ रही थी, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ तात्कालिक संवैधानिक सुझावों को बताया गया जिनमें दो मुख्य थे - प्रथम - वायसराय की कार्यकारिणी का विस्तार करके प्रतिनिधि भारतीयों को इसमें सम्मिलित किया जाय और द्वितीय युद्ध सलाहकार समिति का गठन जिसमें राजनैतिक नेताओं, देशी रियासतों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जाय ।

स्पष्ट है कि कांग्रेस ने न तो अगस्त प्रस्तावों को स्वीकार किया और न वे स्वीकार करने योग्य ही थे । कांग्रेस कार्य समिति ने 22 अगस्त

1940 की सभा के प्रस्तावों द्वारा अपनी आपत्तियाँ स्पष्ट रूप से प्रकट की। सर्वप्रथम, उसने भारत को अविलम्ब स्वतन्त्रता न देने की ब्रिटिश-नीति का विरोध किया । यह ध्यान देने योग्य है कि कांग्रेस कार्य समिति ने स्वतंत्रता केअधिकार को एक "प्राकृतिक अधिकार" माना अर्थात् स्वतः प्राप्त होने वाला अधिकार । इन्हीं प्रस्तावों में कांग्रेस ने डोमिनियन स्टेटस के पद को शर्तों के साथ दिये जाने की नीति को अस्वीकार किया क्योंकि इससे भारत को अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों के समान समानता का दर्जा नहीं मिल रहा था। कार्य समिति का कहना था कि भारत का प्रशासन साम्राज्यवादी सत्ता के अधीन चलाने के पक्ष में वह नहीं थी। कांग्रेस ने इस नीति का भी विरोध किया कि विभिन्न अल्पसंख्यकों को अनावश्यक बढ़ावा दिया जा रहा था ।[13] यह विचारणीय है कि कांग्रेस ने मूल रूप से अगस्त प्रस्तावों को क्यों अस्वीकार किया ? तत्कालीन प्रस्तावों के कारण अथवा दूरगामी संवैधानिक उपायों के कारण । इसके उत्तर में यही कहा जा सकता था कि कांग्रेस ने दूरगामी लक्ष्यों पर अधिक जोर दिया और वह किसी ऐसी योजना को स्वीकारने के पक्ष में नहीं थी जिसके द्वारा मूल संवैधानिक लक्ष्यों की प्राप्ति न होती हो।

भावी इतिहास के लिये ये वर्ष महत्त्वपूर्ण थे और आरम्भ में ही यदि उचित संवैधानिक उपाय कर लिये जाते तो कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के लिये अच्छा होता । इसी कारण यह कथन उचित प्रतीत होता है कि "ब्रिटिश

सरकार ने उस अवसर को खो दिया जब वह युद्ध प्रयासों के लिये कांग्रेस का सहयोग प्राप्त कर सकती थी ।"[14] मौलाना आजाद ने भी मत व्यक्त किया है कि स्वतन्त्रता की कांग्रेस की मांग और कार्यकारिणी के विस्तार के बीच में कोई मेल नहीं था और इस कारण अगस्त समझौता प्रायः एक दिखावा ही सिद्ध हुआ ।[15]

क्रिप्स मिशन योजना और कांग्रेस दृष्टिकोण

22 मार्च 1942 को युद्ध मंत्रिमण्डल के ब्रिटिश सदस्य स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये और उन्होंने कांग्रेस तथा अन्य दलों के नेताओं से तत्कालीन और दूरगामी संवैधानिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में लम्बी वार्ता की । वे लगभग तीन सप्ताह भारत में रहे और उच्च स्तर पर वार्ता का क्रम बनाये रखा।

प्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के लगभग तीन वर्ष बाद विंसटन चर्चिल की सरकार को कांग्रेसी नेताओं तथा अन्य भारतीय नेताओं से प्रशासनिक तथा संवैधानिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में वार्ता करने की आवश्यकता क्यों पड़ी और क्यों ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के एक सदस्य को भारत भेजा गया ? यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि क्या ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विन्सटन चर्चिल कोई दिखावा कर रहे थे अथवा वास्तव में संवैधानिक परिवर्तनों की गुत्थी को सुलझाने के प्रयास में थे । क्रिप्स मिशन से जुड़े

हुये अनेक प्रश्नों की चर्चा से यह सिद्ध किया जा सकता है कि नितान्त मजबूरी में विंसटन चर्चिल ने क्रिप्स मिशन को भेजा । वार्ता करने की उसकी परिधि निश्चित कर दी । युद्धोपरान्त परिवर्तनों की आशा दिला-कर भारतीयों के प्रतिरोध को शान्त करने के प्रयास किये और साथ ही वह साम्राज्यवादी हथकण्डा भी अपनाया, जिसमें भविष्य की वार्ता करते समय भारत के सभी पक्षों और दलों को सन्तुष्ट करने की बात आरम्भ से कही जा रही थी।

क्रिप्स मिशन को भेजने की विवशता यह थी कि पूर्व की ओर से जापानी सेनायें दक्षिण एशिया पर अधिकार जमाने के बाद रंगून तक पहुँच गयी थी और किसी भी समय भारत की पूर्वी सीमाओं पर खतरा उत्पन्न कर सकती थी। जापान के युद्ध में सम्मिलित होने के कारण एक के बाद एक उसकी विजयों के परिणामस्वरूप द्वितीय महायुद्ध भारत की सीमाओं तक पहुँच गया था । अतः यह अनुमान किया गया कि इस कठिनाई के समय ब्रिटिश सरकार को भारतीयों के सहयोग की अपेक्षा थी और उनका सहयोग पाने के उपायों के रूप में क्रिप्स मिशन भारत आया । ब्रिटिश सरकार की एक ओर विवशता यह थी कि उसके सभी सहयोगी देशों ने आग्रह किया कि भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिये कुछ उपाय किये जाय । विशेष रूप से अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट के दबाव के कारण ब्रिटिश सरकार को झुकना पड़ा । तथा उसने

संवैधानिक समाधान के लिये वार्तायें आरम्भ की ।

स्टैफर्ड क्रिप्स, मौलाना आजाद, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू, गोविन्द वल्लभ पन्त आदि सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं से मिले और उन्होंने उन प्रस्तावों का ब्योरा दिया जो लेकरके आये थे और जिनके आधार पर कांग्रेस नेताओं से तथा अन्य दलों के नेताओं से वार्ता की गयी । क्रिप्स के सुझाव दो प्रकार थे - एक दूरगामी प्रस्ताव जिन्हें महायुद्ध के पश्चात् अपनाया जा सकता था और दूसरे ऐसे प्रस्ताव जो तत्काल लागू किये जा सकते थे । दूरगामी प्रस्ताव इस प्रकार थे - प्रथम, एक नयी भारतीय यूनियन की स्थापना जिसे औपनिवेशिक दर्जा प्राप्त हो और अगर वह चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से अलग भी हो जाय । द्वितीय युद्ध के उपरान्त एक संविधान निर्माण सभा की स्थापना जिसमें ब्रिटिश भारत के अतिरिक्त देशी राज्यों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो । देशी राज्यों को यह अधिकार दिया गया कि वे स्वयं अपने प्रतिनिधि मनोनीत कर सकते थे । तृतीय ब्रिटिश सरकार यह आश्वासन देने को तैयार थी कि वह इस संविधान सभा को इस शर्त के साथ मान सकती थी कि अगर ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त इस संविधान को अस्वीकार करें तो वह वर्तमान संवैधानिक प्रणाली को बनाये रख सकता था । प्रान्तों को सम्मिलित होने या न सम्मिलित होने के अधिकार देने को ब्रिटिश सरकार सहमत थी।

इन दूरगामी संवैधानिक परिवर्तनों के सुझावों पर बहस तो हुयी ही,

परन्तु मुख्य विचार-विमर्श तत्कालीन संवैधानिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में हुआ और क्रिप्स-मिशन की सफलता या असफलता इसी पर निर्भर थी। बाद में कांग्रेस कार्य समिति ने अपने प्रस्ताव में भी कहा सब कुछ वर्तमान पर निर्भर कर रहा था और तात्कालिक परिवर्तनों पर समझौता न होने के कारण वार्तायें भंग हो गयी । अतः यह विचारना होगा कि तात्कालिक संवैधानिक परिवर्तनों का केन्द्र-बिन्दु क्या था ? मुख्य वार्ता इस प्रश्न को ले करके हुयी कि वायसराय के कार्यकारिणी परिषद् के स्वरूप में परिवर्तन किया जाय । भारतीयों को इसमें सम्मिलित करने का अवसर दिया जाय और "नयी व्यवस्थायें" इस प्रकार की जाय जिससे कार्यकारिणी मंत्रिमण्डल के समान कार्य कर सकें ।[16] सर्वप्रथम केन्द्रीय स्तर पर कांग्रेस को सम्मिलित करने और गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् को मंत्रिमण्डल का स्वरूप देने पर गम्भीर वार्ता हुयी । वार्तायें इसके आगे भी बढ़ी और नौ अप्रैल 1942 को क्रिप्स यह भी स्वीकारने को तैयार हो गया कि रक्षा विभाग किसी भारतीय को सौंप दिया जाय । जब यह सूचना गर्वनर जनरल और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को मिली कि स्टैफर्ड क्रिप्स रक्षा विभाग किसी भारतीय को सौंपने को तैयार हो रहे हैं तो उन्होंने इसका विरोध किया । अन्ततः ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने तुरन्त सन्देश भेजकर इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया ।[17] स्वाभाविक ही है कि तत्कालीन संवैधानिक परिवर्तनों के विषय में जो समझौता प्रायः होने वाला था, वह अचानक खटाई में पड़ गया और क्रिप्स मिशन के बदले

हुये दृष्टिकोण को देखकर कांग्रेस नेता वार्ता से हट गये ।

इन परिस्थितियों में क्रिप्स मिशन असफल हो गया तथा प्रायः सभी राजनीतिक दलों ने इसके सुझावों को अस्वीकार कर दिया । जवाहरलाल नेहरू किसी न किसी समझौते के लिये पूरी तरह से तैयार थे और फासिस्टों के विरोध में ब्रिटिश सरकार को सहायता देने को तत्पर थे ।[18] जवाहर लाल नेहरू को उस समय ज्ञान नहीं हुआ कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के हस्तक्षेप के कारण वार्तायें भंग हो गयी थी । लेकिन फिर भी उन्हें अनुमान तो हो गया कि अन्तिम समय में अचानक कोई कठिनाई उत्पन्न हो गयी । वार्ताओं के बारे में जवाहर लाल नेहरू का 13 अप्रैल 1942 का एक अंश उद्धृत किया जा सकता है । यह इस प्रकार था -

"आरम्भ से क्रिप्स ने यह बताया था कि उसका विचार एक प्रकार के राष्ट्रीय मंत्रिमण्डल के निर्माण का था जिसमें वायसराय की भूमिका एक संवैधानिक अध्यक्ष की हो सकती थी, जिस प्रकार राजा की होती है और सारी वार्ता का केन्द्र रक्षा विभाग बना । बाद में क्रिप्स ने कहा कि सामूहिक उत्तरदायित्व प्रदान करते समय राष्ट्रीय मंत्रिमण्डल संगठित नहीं किया जा सकता था और न ही वायसराय के निषेधाधिकार के बारे में कोई आश्वासन दिया जा सकता था। यह क्रिप्स की आरम्भिक योजना के बिल्कुल विपरीत था । इसे राष्ट्रीय सरकार कहना सम्भव नहीं था और न इससे कोई उत्साह

होता ।[19] जवाहर लाल नेहरू के इस पत्र से यह सिद्ध होता है कि कांग्रेस के नेताओं ने यह अनुभव किया कि क्रिप्स उन्हें धोखा दे रहा था अथवा केवल बातें बना रहा था। लेकिन बाद में जो तथ्य उपलब्ध हुये हैं उससे प्रकट है कि क्रिप्स ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के हाथ में एक खिलौना सिद्ध हुआ । विंसटन चर्चिल का ग्यारह अप्रैल का पत्र उसके लक्ष्यों को स्पष्ट करता है "क्रिप्स को भारत भेजकर हमने यह सिद्ध कर दिया है कि किसी समझौते के लिये अंग्रेजों की कितनी अधिक इच्छा थी। सम्पूर्ण ब्रिटेन तथा अमेरिका में इसका प्रभाव हमारे लिये लाभप्रद रहा ।"[20]

द्वितीय महायुद्ध के समय यह एक प्रयास किया गया था जो असफल अवश्य रहा परन्तु जिसमें ब्रिटिश नीति के वे जहरीले सिद्धान्त के आसार दिखाई देने लगे जिनके कारण अन्ततः भारत का विभाजन हुआ क्योंकि क्रिप्स मिशन का सबसे खतरनाक सिद्धान्त यही था कि प्रस्तावित संघ में किसी भी प्रान्त, किसी भी क्षेत्र या किसी भी देशी राज्य को उसकी इच्छा के बिना सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। कांग्रेस ने राष्ट्रीय एकता के लिये उपस्थित इस गंभीर चुनौती को आवश्यक समझा और अपने प्रस्ताव में इसका विरोध किया । कांग्रेस ने क्रिप्स मिशन की इस अवधारणाका विरोध करते हुये कहा कि "यह भारत की एकता बनाये रखने के विचार की खुली चुनौती थी।" कांग्रेस कार्य समिति ने इसी प्रस्ताव में आगे कहा कि "वह भारत की स्वतन्त्रता के प्रति उसी तरह से कटिबद्ध थी जिस प्रकार से

राष्ट्रीय एकता के प्रति और इस एकता को तोड़ने के किसी भी प्रयास को सोचना ही उसके लिये कष्टदायक होगा ।"21

1945 का शिमला समझौता - द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् यह आशा की जा रही थी कि ब्रिटिश सरकार की ओर से संवैधानिक परिवर्तनों के नये उपायों का सुझाव दिया जायेगा । इस ओर पहला प्रयास शिमला सम्मेलन के द्वारा हुआ । वायसराय लार्ड बेवेल ने एक घोषणा करके विभिन्न राजनीतिक दलों को शिमला में एकत्र होने का निमंत्रण दिया । इस प्रकार जो सम्मेलन जून-जुलाई उन्नीस सौ पैंतालिस को शिमला में आयोजित हुआ, उसे शिमला सम्मेलन कहा जाता है । यह सम्मेलन कुछ शीघ्रता में बुलाया गया और उस समय के वायसराय बेवेल ने परिस्थितियों के आंकलन में वह चतुराई नहीं दिखाई जिसकी आशा की जा रही थी ।

सम्मेलन के पूर्व वायसराय ने एक घोषणा करके इस सम्मेलन के उद्देश्यों को स्पष्ट किया और उस समय के भारत सचिव ने भी शिमला सम्मेलन के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला । लेकिन यह सम्मेलन आरम्भ से ही कुछ कठिनाइयों में फँस गया । कांग्रेस के सभी वरिष्ठ नेता लम्बे समय के बाद कारावास से मुक्त किये गये थे । भारत छोड़ो आन्दोलन की समाप्ति हो चुकी थी, युद्ध का अन्त हो चुका था और वातावरण वार्ता के अनुकूल था । लेकिन फिर भी ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों और वायसराय ने जो वक्तव्य दिये ,

उनसे स्थिति सुलझ नहीं सकी । वायसराय की घोषणा में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार राजनीतिक मतभेदों का समाधान चाहती थी। भारत को स्वशासन प्रदान करने की इच्छा भी ब्रिटिश सरकार ने व्यक्त की । यहाँ तक तो इसके उद्देश्य सर्वथा उचित थे । इसके साथ-साथ यह भी कहा गया कि वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् का विस्तार किया जायेगा । केवल वायसराय और सेनापति को छोड़कर इसके सभी सदस्य भारतीय होंगे । यह एक उल्लेखनीय पेशकश थी क्योंकि लम्बे समय से वायसराय की कार्यकारिणी में भारतीय राजनीतिक दलों के नेताओं को सम्मिलित किये जाने का विचार किया जा रहा था। यह एक स्वागत योग्य कदम होता । यदि केवल दो ब्रिटिश सदस्यों के अतिरिक्त वायसराय की कार्यकारिणी में सभी सदस्य भारतीय होते । ब्रिटिश प्रस्तावों में यह प्रस्ताव सबसे विवादास्पद सिद्ध हुआ कि अलग-अलग वर्गों, जातियों के कितने प्रतिनिधियों को किस राजनीतिक दल का प्रतिनिधि मानकर गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में सम्मिलित किया जाय । इसी समय हिन्दुओं और हिन्दुओं को विभाजित करने की नीति भी दिखाई दी क्योंकि वायसराय की घोषणा में उच्च जाति के हिन्दुओं को अलग से प्रतिनिधित्व देने की बात कही गयी । इसका अर्थ यह हुआ कि तथाकथित नीची जाति के प्रतिनिधियों को अथवा शोषित वर्ग के प्रतिनिधियों को अलग से वायसराय की परिषद् में सम्मिलित करने की योजना वायसराय के मस्तिष्क में थी । कांग्रेस ने इसका विरोध किया और

शिमला सम्मेलन की सफलता पर पहला प्रश्न चिन्ह इसी कारण लगा ।

शिमला सम्मेलन के समय दूसरा विवादास्पद प्रश्न यह उठा कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कौन करे और कौन न करें । कांग्रेस ने यह जोर देकर कहा कि वह सभी जातियों तथा सम्प्रदायों की संस्था थी और जो भी उसके सदस्य वायसराय की परिषद् में शामिल होंगे । वे सभी सम्प्रदायों, जातियों और सामाजिक वर्गों के हो सकते थे । मौलाना आजाद स्वयम् इस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे और कांग्रेस यह नहीं मान सकती थी कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व केवल मुस्लिम लीग करे और कांग्रेस को किसी भी तरह से केवल हिन्दू संगठन कह दिया जाय जैसा कि मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना चाहते थे । मुस्लिम लीग के इस नेता के अड़ियल दृष्टिकोण के कारण, कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व केवल मुस्लिम लीग ही करेगी, शिमला सम्मेलन बिना किसी निर्ण य के समाप्त हो गया ।

शिमला सम्मेलन से यह प्रकट होने लगा कि किसी भी भावी संवैधानिक योजना के समाधान के समय मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण महत्वपूर्ण होगा और ब्रिटिश सरकार को भी इस सम्बन्ध में निर्णय करना होगा कि वह मुस्लिम लीग की मांगों के विषय में क्या दृष्टिकोण अपनायें ।

कैबिनेट मिशन योजना और कांग्रेस का दृष्टिकोण

कैबिनेट मिशन के आगमन के समय तक संवैधानिक प्रश्नों के समाधान

की परिस्थितियों मे पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त हुये आम चुनावों में विंसटन चर्चिल की रूढ़िवादी पार्टी पराजित हो गयी थी और श्रमिक सरकार एक बड़े बहुमत से ब्रिटेन की सत्ता में आयी । ब्रिटेन में हुआ यह सत्ता परिवर्तन इस बात का सूचक था कि भारत में भी संवैधानिक परिवर्तन तीव्र गति से होंगे । स्वतन्त्रता की संभावना भारत में बढ़ी और कांग्रेस दल को यह विश्वास हो गया कि कोई निर्णायक कदम उठाने का अवसर आ गया । ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने पन्द्रह मार्च 1946 को कामन सभा में एक घोषणा करके संवैधानिक सुधार के विषय में महत्त्व-पूर्ण निर्णय करने की क्षमता घोषित की । प्रधानमन्त्री एटली की घोषणा में दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिये गये । प्रथम में कहा गया कि ब्रिटिश सरकार यह स्वीकार करती है कि भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार है और वही यह निर्णय करेगा अथवा उस देश के लोग यह निर्णय करेंगे कि भारत ब्रिटिश कामनवेल्थ में शामिल हो अथवा नहीं । इस प्रकार लम्बे समय से कांग्रेस स्वतन्त्रता के जिस लक्ष्य की बात कर रही थी और जिस पर लगातार जोर दे रही थी उसे सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर लिया गया । द्वितीय यह बात कही गयी कि वायसराय को यह अधिकार नहीं होगा कि बहुमत की राजनीतिक प्रगति के विचार में वह रोड़ा अटकाये । कांग्रेस ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के वक्तव्य के इन दोनों अंशों का स्वागत किया और आशा की कि जो प्रतिनिधि मण्डल भारत आयेगा, उससे महत्त्वपूर्ण निर्णय हो सकेंगे ।

जिस पृष्ठभूमि में कैबिनेट मिशन भारत आया उसका एक पहलू और भी था। इस समय तक कांग्रेस के प्रभाव को ब्रिटिश सरकार और वायसराय सभी ने अच्छी तरह से समझ लिया था । भारत छोड़ो आन्दोलन के समय पर आन्दोलनात्मक संघर्ष कांग्रेस ने किया था । उससे यह सिद्ध हो गया था कि जन समर्थन उसे प्राप्त था और वह ब्रिटिश प्रशासन को चलाने व ठप्प करने की क्षमता रखती थी। स्वयं गवर्नर जनरल ने मार्च 1946 में स्वीकार किया कि "यह आवश्यक है कि किसी जन आन्दोलन की परिस्थिति न हो या कोई क्रान्ति न हो जिसे आरम्भ करने में कांग्रेस सक्षम है और जिसका नियन्त्रण करने का हम दावा नहीं कर सकते ।"[22] वायसराय का यह कथन यह दर्शाता है कि बदली हुई परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार को यह आभास हो चुका था कि वह कांग्रेस की उपेक्षा करके मनमाने तरीके से अपना साम्राज्यवादी प्रशासन भारत में नहीं चला सकती थी। अतः कैबिनेट मिशन के सम्बन्ध में जो यह आशंका थी कि इसका झुकाव कांग्रेस की ओर था तो इस कथन में केवल यही सच्चाई थी कि कांग्रेस की शक्ति का आभास उसे हो चुका था और ब्रिटिश सरकार को भी । कैबिनेट मिशन के आगमन के समय भारत में प्रशासन तन्त्र अत्यन्त ढीला हो चुका था। चारों ओर हड़तालें हो रही थी, विरोध प्रदर्शन हो रहे थे और साम्प्रदायिक वैमनस्य की आशंका भी थी। ऐसी स्थिति में राजनीतिक समाधान करना ब्रिटिश सरकार को आवश्यक लगा ।

चौबीस मार्च से जून 1946 तक ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के तीन सदस्यों ने भारत आकर भारतीय नेताओं से संवैधानिक समस्या के विषय में लम्बी वार्तायें की । भारत सचिव पैथिक लारेन्स, स्टैफर्ड क्रिप्स और एलेग्जेन्डर - ये तीन ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के सदस्य भारत में बातचीत करते रहे और गवर्नर जनरल को इस मिशन का पूर्ण सदस्य बनाया गया ।

जैसी कि आशंका थी मुस्लिम लीग के अड़ियल दृष्टिकोण के कारण राजनीतिक वार्ता में कोई प्रगति न हो सकी । अन्ततः कैबिनेट मिशन को अपने प्रस्ताव घोषित करने पड़े । ये प्रस्ताव कैबिनेट मिशन योजना कहलाये जिन्हें स्वीकारने अथवा अस्वीकारने का कार्य कांग्रेस और अन्य दलों का था। कैबिनेट मिशन में से प्रमुख प्रस्ताव किये गये । कैबिनेट मिशन ने अपने प्रस्ताव में कहा कि एक पृथक् मुस्लिम राज्य की मांग अव्यावहारिक है । इस प्रकार मुस्लिम लीग द्वारा प्रस्तुत की गयी मांग को कैबिनेट मिशन ने अस्वीकार कर दिया । इसके स्थान पर एक संघ के निर्माण का प्रस्ताव किया गया जिसमें प्रान्तों और देशी राज्यों को सम्मिलित किये जाने का प्रस्ताव था। इस संघ को पर्याप्त शक्तियाँ दी गयी और यह अधिकार भी दिया गया कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहे अथवा न रहे ।

इस योजना में एक अत्यन्त विवादास्पद प्रस्ताव भी था। अलग-अलग प्रान्तों को ए बी सी वर्गों में बांटकर इनके अलग-अलग समूह बनाने का

प्रस्ताव किया गया और प्रत्येक समूह को पर्याप्त अधिकार दिये गये ।

संविधान निर्माण के लिये वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया और एक नये फार्मूले के अनुसार संविधान निर्माण तथा बनाने का अधिकार दिया जिसमें सभी धर्मों, जातियों, वर्गों, क्षेत्रों आदि को प्रतिनिधित्व देने का प्रावधान किया गया ।

इन प्रस्तावों के अतिरिक्त जो प्रायः दूरगामी प्रस्ताव कहे जा सकते हैं कैबिनेट मिशन में एक ऐसा प्रस्ताव भी था जिसे तात्कालिक प्रभाव से लागू किया जा सकता था । यह था - काम चलाऊ सरकार की स्थापना । जिसमें सभी राजनीतिक दलों के सदस्यों को सम्मिलित करने का प्रस्ताव था ।

जो प्रान्तों का वर्गीकरण सुझाया गया था उसमें कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष रूप से मुस्लिम लीग की मांगों को स्वीकारने का भावना निहित थी क्योंकि इसके भाग ए में बम्बई, बिहार, सी.पी. मद्रास, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश थे । इसके भाग बी में पश्चिमी सीमा प्रान्त, पंजाब और सिंध थे तथा इसके भाग सी में आसाम और बंगाल थे । स्पष्ट है कि बी और सी वर्गों में बहुमत मुसलमानों का था और कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों के अनुसार इन वर्गों को स्वतंत्रता थी कि वे प्रस्तावित संघ में सम्मिलित हो अथवा न हो । यह एक बहुत ही पेचीदा और विवादास्पद सिद्धान्त था जिसके कारण कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों को कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया । साथ ही साथ ये प्रस्ताव अस्पष्ट थे जिनका

अलग-अलग राजनीतिक दलों ने अलग-अलग अर्थ निकाला ।

अन्ततः कांग्रेस को अपना दृष्टिकोण निश्चित करना पड़ा और उसने संविधान निर्माण सभा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । इसका कारण बताते हुये कांग्रेस कार्य समिति ने कहा कि केन्द्रीय शक्ति को शक्तिशाली बनाने का पर्याप्त अवसर था। लेकिन कामचलाऊ सरकार में सम्मिलित होने के लिये कांग्रेस तैयार नहीं हुयी ।

अन्तरिम सरकार का गठन

29 जून 1946 को कैबिनेट मिशन के सदस्य तो लन्दन चले गये । परन्तु वायसराय के सम्मुख अन्तरिम सरकार के गठन का प्रश्न लगातार बना रहा । बेवेल ने निर्णय कर लिया कि वह इस विषय में प्रमुख राजनीतिक दलों को अवश्य तैयार कर लेगा और उसका कार्य उस समय आसान हो गया जब कांग्रेस अन्तरिम सरकार के गठन के लिये तैयार हो गयी । अगस्त 1946 को जवाहर लाल नेहरू ने कांग्रेस की ओर से अपनी सम्मति वायसराय को बता दी ।[23]

दो सितम्बर 1946 को जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार का गठन कर दिया गया । इस समय तक जवाहर लाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष बन गये थे और उन्हें ही अन्तरिम सरकार के प्रधान का पद सौंपा गया तथा इस अन्तरिम सरकार में बारह सदस्य थे, पाँच कांग्रेस के, एक अनुसूचित जाति का, तीन मुस्लिम सदस्य और एक सिक्ख, एक ईसाई तथा एक पारसी ।

पहले तो लीग इस अन्तरिम सरकार में सम्मिलित नहीं हुयी । बाद में मुस्लिम लीग के सदस्य भी अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हो गये और 1947 के मध्य तक अन्तरिम सरकार में कार्य करते रहे ।

अन्तरिम सरकार का गठन करके और सम्पूर्ण केन्द्रीय कार्यकारिणी के कार्यों को भारतीय राजनीतिक नेताओं को सौंपकर ब्रिटिश सरकार यह बताना चाहती थी कि वह वास्तविक सत्ता भारतीयों को सौंपने को तैयार थी । 1946 के समाप्तहोते-होते राजनीतिक वातावरण बहुत कुछ बदल चुका था और एटली की सरकार द्वारा कुछ न कुछ संवैधानिक उपाय अपनाये जाने का समय निकट आता जा रहा था ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि युद्ध के पश्चात् बदलते हुये राजनीतिक वातावरण में संवैधानिक उपायों का प्रश्न भी सभी के लिये सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया । ब्रिटिश सरकार को इस विषय में पहल करने का कार्य करना था जो उसने निरन्तर जारी रखा । वायसराय को भारत में संवैधानिक परिवर्तनों के लिये कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दलों को तैयार करना था और किसी भी वायसराय का उत्तरदायित्व इसलिये महत्वपूर्ण था क्योंकि उसी के द्वारा वार्ता को अन्तिम रूप दिया जा सकता था । कांग्रेस ने लगातार लचीला रूख ग्रहण किया और सत्ता की साझेदारी के कार्य में तथा सत्ता ग्रहण करने के कार्य में उसने निरन्तर सहयोग किया । कांग्रेस के सम्मुख शीघ्र ही यह

प्रश्न आया कि संविधान निर्माण करते समय उसके लक्ष्य क्या हो ? देश को स्वतन्त्र किस प्रकार कराया जाय और किन सिद्धान्तों पर भावी संविधान आधारित हो ? इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए 1946 में ही संविधान सभा का गठन हुआ जिसका विवरण आगामी अध्याय के अध्ययन का विषय है ।

सत्ता हस्तान्तरण, देश की स्वतन्त्रता, राजनीतिक समाधान का प्रश्न जब कांग्रेस के सम्मुख आया तो उसे यह भी निश्चित करना था कि देश की एकता को बनाये रखकर स्वतन्त्रता प्राप्त की जाय अथवा देश के विभाजन को स्वीकार करके स्वतन्त्रता के मार्ग पर अग्रसर होने का निर्णय लिया जाय । 1946 और 1947 में जो गंभीर संवैधानिक प्रश्न सामने आये, उनके विषय में ब्रिटिश सरकार ने मध्य मार्ग अपनाने का प्रयास किया । सभी पक्षों को संतुष्ट करने की कोशिश उसकी ओर से होती रही । किन्हीं कारणों से संवैधानिक उपाय किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित होने के स्थान पर अलग-अलग राजनीतिक दलों, साम्राज्यवादी नीति के स्वार्थों द्वारा प्रभावित होते गये और अन्ततः कांग्रेस को कुछ ऐसे निर्णयों को स्वीकार करना पड़ा जिन्हें वह सामान्य परि-स्थिति में सम्भवतः न मानती । वास्तविकता कुछ भी रही हो, इन वर्षों में लिये गये निर्णयों ने देश के भविष्य को लम्बे समय तक प्रभावित किया ।

सन्दर्भ

1. एस. गोपाल, जवाहरलाल नेहरू, खण्ड एक, पृ. 250.
2. वही, पृ. 251.
3. पट्टाभि सीतारामैय्या, हिस्ट्री आफॅ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खण्ड दो, पृ. 125.
4. इण्डियन एन्युअल रजिस्टर, 1929, खण्ड दो, पृ. 214.
5. ए सेन्टेनरी हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खण्ड तीन, पृ. 326.
6. वही, पृ. 326.
7. बी. बी. मिश्रा, दि इण्डियन पॉलिटिकल पार्टीज, पृ. 340.
8. जवाहर लाल नेहरू, डिस्कबरी ऑफ इण्डिया, पृ. 428.
9. वही, पृ. 429.
10. सुमित सरकार, माडर्न इण्डिया, पृ. 376.
11. जवाहर लाल नेहरू, डिस्कबरी ऑफ इण्डिया, पृ. 439.
12. ए. सी. बनर्जी, दि कांस्टीटयूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड तीन, पृ. 222.
13. वही, पृ. 228.
14. आर. सी. मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ दि फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, खण्ड तीन, पृ. 606.

15. ए.के. आजाद, इण्डिया विन्स फ्रीडम, पृ. 68.

16. मैनसेर्ग (सं.), ट्रान्सफर ऑफ पावर, खण्ड एक, पृ. 636.

17. सुमित सरकार, माडर्न इण्डिया, पृ. 387.

18. एस. गोपाल, जवाहर लाल नेहरू, खण्ड एक, पृ. 281-282.

19. आर.जे.मूर, चर्चिल, क्रिप्स ऐण्ड इण्डिया, 1939-1945, पृ. 129-130.

20. मैनसेर्ग (सं.), ट्रान्सफर ऑफ पावर, खण्ड एक, पृ. 739.

21. कांग्रेस कार्य समिति का प्रस्ताव, 11 अप्रैल 1942, ए.एम. जैदी (सं.) ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया.

22. वेवल, वायसराय जनरल, पृ. 232.

23. ए.एम. जैदी (सं.), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, पृ. 248.

अष्टम अध्याय

संविधान सभा का निर्माण और नीति निर्धारण

- काँग्रेस द्वारा संविधान सभा की माँग पर निरन्तर जोर.
- द्वितीय महायुद्ध के समय संविधान सभा के प्रश्न पर ब्रिटिश नीति में परिवर्तन और काँग्रेस पर इसका प्रभाव.
- द्वितीय महायुद्ध के समाप्ति के उपरान्त संविधान सभा की माँग पर जोर.
- 1940 के निर्वाचन और संविधान सभा का गठन.
- संविधान सभा के चुनाव और संगठन.
- संविधान सभा के अधिकारों और कार्यों के विषय में आरम्भिक मतभेद.
- संविधान सभा के अधिवेशन का आरम्भ.
- संविधान सभा का दूसरा अधिवेशन.
- ब्रिटिश प्रधानमंत्री की संसद में घोषणा.
- संविधान सभा के स्वरूप में परिवर्तन.

कांग्रेस द्वारा संविधान सभा की मांग पर निरन्तर जोर

यदि 1929 को कांग्रेस के इतिहास की विभाजित रेखा मानी जाय तो इससे उसके संवैधानिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालना सरल हो जायेगा । इस वर्ष कांग्रेस ने एक युगान्तकारी निर्णय लिया । यह निर्णय था - कांग्रेस द्वारा स्वतंत्रता के लक्ष्य को निर्धारित करना । कांग्रेस को यह अहसास था कि लक्ष्य की घोषणा कर देना पर्याप्त नहीं होगा । इसके लिये अनेक अन्य उपायों की आवश्यकता थी । एक महत्त्वपूर्ण उपाय तुरन्त ही अपनाया गया और यह था - सविनय अवज्ञा आन्दोलन के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति की मांग पर जोर । स्वतन्त्रता के लक्ष्य से जुड़ा हुआ प्रश्न था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद संविधान कौन बनायेगा । इसी विचार से कांग्रेस में संविधान सभा के गठन, इसके उद्देश्य तथा स्वरूप और इसके कार्यों पर लगातार ध्यान दिया गया । इसकी थोड़ी चर्चा इसके पूर्व यथास्थान पर करने का प्रयास किया गया है लेकिन फिर भी संवैधानिक सभा के विषय में कांग्रेस की नीति का ब्योरेवार विवरण यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासांगिक नहीं रहेगा ।

1930 से 1947 तक कांग्रेस ने निरन्तर स्वाधीनता के लक्ष्य पर जोर दिया । यह एकमात्र और एकसूत्रीय मांग कांग्रेस की आधारभूत मांग थी और जैसे-जैसे यह मांग बलवती होती गयी उसी के अनुसार स्वतन्त्र भारत के लिये संविधान के स्वरूप पर विचार किया जाने लगा । इस प्रकार स्वाधीनता का

लक्ष्य और स्वाधीन भारत में अपनाये जाने वाले संविधान के उद्देश्यों के विषय में कांग्रेस में चर्चा का दौर आरम्भ हुआ ।

संविधान सभा का लेकर कांग्रेस के सम्मुख अनेक बाधायें थी और वह इन बाधाओं से भलीभांति परिचित थी । पहली बाधा थी - ब्रिटिश सरकार का ढुलमुल दृष्टिकोण । द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक तो ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की मांग को इस तरह नकार दिया जैसे कि यह राष्ट्रीय संगठन कोई अस्वाभाविक मांग कर रहा था। द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटिश सरकार को कांग्रेस की मांग पर ध्यान देना पड़ा जिसकी चर्चा हम आगे कर रहे हैं । ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ और इसने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जो बाधायें उत्पन्न की, उनके कारण संविधान-निर्माण का कार्य उस गति से आरम्भ नहीं हो सका जैसा कि कांग्रेस चाहती थी ।

कांग्रेस की मांग के सम्मुख दूसरी बड़ी बाधा मुस्लिम-लीग ने उपस्थित की । मुस्लिम लीग का संविधान का स्वरूप कांग्रेस से भिन्न था क्योंकि मुस्लिम-लीग अत्यन्त कमजोर केन्द्र-शासन पर जोर दे रही थी और प्रान्तों को अधिक से अधिक अधिकार दिलाना और अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की भूमिका तैयार करना उसका उद्देश्य था । 1947 तक लगातार मुस्लिम लीग के असहयोग के कारण संविधान सभा का गठन और इसके कार्य किस प्रकार प्रभावित हुये - इसका विवरण हम आगे चलकर दे रहे हैं ।

कांग्रेस के सम्मुख तीसरी बड़ी बाधा थी - भारत की नौकरशाही । यह नौकरशाही कांग्रेस के हाथ में सत्ता देने के स्थान पर अनेक समस्यायें उत्पन्न करने पर कृत संकल्प थी और इसी कारण अंग्रेज उच्चाधिकारियों ने मुस्लिम-लीग और कांग्रेस को एक दूसरे से लगातार दूर रखने की चाल चली । परिणामतः संविधान-सभा की कार्यवाही प्रभावित हुयी । जहाँ तक कांग्रेस की नीति का प्रश्न है, उसने लम्बे समय से स्वतन्त्रता और संविधान निर्माण को एक दूसरे से जोड़कर देखा । तभी तो मद्रास के 1927 के अधिवेशन में "स्वराज संविधान" को बनाने के प्रयास आरम्भ किये गये थे ।[1] इसके पश्चात् संविधान को लेकर लम्बी बहस 1934 में आरम्भ हुयी तथा इसी समय 1935 के संविधान निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी । कांग्रेस ने इस प्रक्रिया की आलोचना करते हुये वैकल्पिक रूप में प्रस्ताव किया कि भारतीयों द्वारा एक संविधान सभा आयोजित करके अपनी ओर से संविधान बनाया जाय ।[2]

जब 1935 का संविधान स्वीकृत हो गया और इसके अधीन चुनाव आयोजित करने का प्रश्न उठा तो इसी के साथ 1935 के संविधान को लेकर लम्बी बहस छिड़ी । ऐसी ही स्थिति में कांग्रेस ने संविधान-निर्माण के प्रश्न को जन-जन के सम्मुख रखने का बीड़ा उठाया । भावी संविधान के स्वरूप की चर्चा चुनाव से जुड़ गयी । कांग्रेस के प्रस्ताव का एक अंश इस प्रकार था -

"भारतीय केवल उसी संवैधानिक स्वरूप को स्वीकार कर सकते हैं जिसको उन्होंने तैयार किया हो और जो राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लक्ष्य पर आधारित

हो तथा जो उनकी आवश्यकता और इच्छाओं के अनुसार विकास करने का अवसर देता हो ।"[3] कांग्रेस के इस प्रस्ताव से यह प्रकट हो जाता है कि उसने स्वतंत्रता के लक्ष्य, लोगों की महत्वाकांक्षायें और संविधान के वास्तविक स्वरूप को एक दूसरे से जोड़कर देखा । दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि कांग्रेस का यह मानना था कि ये प्रश्न एक दूसरे से जुड़े हुये थे तथा एक दूसरे पर आधारित थे और इन्हें अलगनहीं किया जा सकता था। कांग्रेस ने इसी समय से एक दूरगामी नीति अपनायी । उसने स्वतन्त्रता के लक्ष्य पर लगातार जोर दिया और यह भी स्पष्ट किया कि यथाशीघ्र भावी संविधान के स्वरूप पर गम्भीर विचार किया जाय । इससे कांग्रेस की नीति के सैद्धान्तिक पक्ष उजागर होते हैं और यह भी प्रकट होता है कि जन सहयोग के द्वारा कांग्रेस एक व्यापक आधार तैयार करने की आवश्यकता अनुभव कर रही थी।

द्वितीय महायुद्ध के समय संविधान सभा के प्रश्न पर ब्रिटिश नीति में परिवर्तन और कांग्रेस पर इसका प्रभाव

जैसे ही द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तुरन्त ही संवैधानिक प्रश्न महत्वपूर्ण हो गये और तात्कालिक उपाय के रूप में तथा दूरगामी परिवर्तनों के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार को निर्णय लेने पर विवश होना पड़ा । ऐसी स्थिति में कांग्रेस की संविधान सभा की मांग को पूरी तरह से अस्वीकार करना न तो वायसराय के लिये सम्भव था और न ब्रिटिश सरकार के लिये ही । अतः इस मांग को आंशिक रूप से स्वीकारने की नीति ब्रिटिश सरकार अथवा उसके

प्रतिनिधियों ने अपनायी । अगस्त 1940 के प्रस्तावों में पहली बार औपचारिक रूप से किसी न किसी प्रकार की संविधान सभा के पक्ष में स्वीकृति प्रदान की गयी । स्वाभाविक रूप से तत्कालीन वायसराय फूँक-फूँककर कदम रख रहा था । अतः उसने युद्ध के उपरान्त ऐसी किसी सभा को बुलाने की पेश-कश की । इसके अतिरिक्त संविधान सभा शब्द का प्रयोग सरकारी प्रस्ताव में नहीं किया गया और न ही इसके गठन के विषय में कुछ कहा गया । फिर भी वायसराय का यह कथन कि "एक ऐसी संस्था द्वारा युद्ध के बाद नया संविधान निर्मित किया जायेगा जिसमें भारतीय राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख तत्त्व सम्मिलित होंगे" एक आगे बढ़ता हुआ कदम था ।[4]

संविधान सभा के विषय में ब्रिटिश दृष्टिकोण पर क्रिप्स प्रस्तावों में अधिक प्रकाश डाला गया । ये प्रस्ताव भी युद्ध के उपरान्त गठित होने वाली सभा से सम्बन्धित थे । फिर भी इस बार शब्द यह प्रयोग हुआ " संविधान निर्माण करने वाली संस्था ।" चाहे शब्द संविधान सभा का प्रयोग न भी हुआ हो फिर भी क्रिप्स प्रस्तावों में वर्णित संगठन संविधान सभा के समान ही था। इसके संगठन के विषय में भी क्रिप्स-मिशन ने कुछ प्रस्ताव किये । क्रिप्स प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि किसी भी संविधान सभा के गठन के विषय में प्रमुख सम्प्रदायों के नेता अपनी ओर से विचार करने को स्वतन्त्र थे ।

इस प्रकार यह तो प्रकट हो गया कि भावी संविधान के स्वरूप पर

जब कभी भी कोई वार्ता होगी तो इसका एक प्रमुख मुद्दा संविधान सभा का गठन और इसके अधिकारों के विषय में होगा ।

इसके उपरान्त शीघ्र ही जब कांग्रेस ने भारत-छोड़ों आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया तो यह स्पष्ट हो गया कि यह राष्ट्रीय संस्था लम्बे समय तक प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं थी और उसने अंग्रेजों को चुनौती देते हुये उन्हें भारत से छोड़कर चले जाने का आग्रह किया । भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों में इस समय तक पूरी तरह से दरार आ चुकी थी और अब किसी भी स्थिति में ब्रिटिश सत्ता को स्वीकारने को भारतीय तैयार नहीं थे । आठ अगस्त 1942 को कांग्रेस ने बम्बई अधिवेशन में वह प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित किया जो "भारत छोड़ो" प्रस्ताव कहलाता है । इस प्रस्ताव में भी संविधान निर्माण के विषय में स्पष्ट चर्चा की गयी । प्रस्ताव का अंश इस प्रकार था -

"काम चलाऊ सरकार संविधान सभा की योजना को तैयार करेगी जो भारत सरकार के लिये एक ऐसा संविधान बनायेगी जो देश के सभी वर्गों को स्वीकार होगा ।" यह ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रस्ताव में कांग्रेस ने भावी संविधान के स्वरूप की भी चर्चा की । प्रस्ताव में आगे कहा गया "कांग्रेस का मत है कि ऐसा संविधान अवश्य ही संघीय हो जिसमें संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता मिले और बची हुयी शक्तियाँ इन्हीं इकाइयों को मिलें ।"

भारत छोड़ो प्रस्ताव में वर्णित संविधान के स्वरूप में जो नीतिगत प्रश्न उठाये गये थे उनकी चर्चा करना आवश्यक है । इसमें पहली बात तो यह कही गयी कि यह संविधान भारत के सभी वर्गों द्वारा स्वीकारा जायेगा अर्थात् कांग्रेस का यह प्रयास होगा कि जो संविधान बने, उसमें देश के सभी वर्गों, सम्प्रदायों और राजनीतिक दलों का पूरा सहयोग हो क्योंकि कांग्रेस यह भली भांति जानती थी कि 1928 की नेहरू रिपोर्ट इसी कारण अस्वीकृत हो गयी थी क्योंकि अन्य राजनीतिक दलों का सहयोगउस समय प्राप्त नहीं हो सका था।

भारत छोड़ो प्रस्ताव में ऐसे संघ की कल्पना की गयी जिसमें सम्मिलित होने वाली इकाइयों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का वचनदिया गया था । यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों किया गया ? कांग्रेस लगातार शक्तिशाली केन्द्र के पक्ष में आवाज उठा रही थी लेकिन भारत छोड़ो प्रस्ताव में सम्मिलित होने वाली इकाइयों के अधिकारों की चर्चा की गयी और शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना के प्रश्न पर मौन रही । इसका उत्तर यही हो सकता है कि मुस्लिम लीग से सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों के अधिकारों को सुरक्षित करने की बात तो कही गयी लेकिन शक्तिशाली केन्द्र के निर्माण की चर्चा नहीं की गयी । केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों का प्रश्न, मजबूत केन्द्र और कमजोर केन्द्र का प्रश्न, इकाइयों के संवैधानिक अधिकारों का प्रश्न तत्कालीन राजनीति से जुड़ा हुआ था । इसी समय से भावी संविधान की चर्चा करते समय अल्पसंख्यकों की भावना

को ध्यान में रखते हुए इकाइयों को पर्याप्त अधिकार सुरक्षित रखने के विषय में कांग्रेस ने राष्ट्रीय संघर्ष आरम्भ करते समय यह सशर्त प्रस्ताव पारित किया। कांग्रेस का दृष्टिकोण समझौतावादी, व्यवहारपरक और समयोचित था।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त संविधान सभा की माँग पर जोर

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त सम्पूर्ण राजनीतिक वातावरण बदल गया । संवैधानिक समस्याओं के विषय में इसके पूर्व ब्रिटिश सरकार भविष्य के वायदे कर रही थी लेकिन अब तुरन्त उसे निर्णय लेने की आवश्यकता थी ।

इस ओर महत्त्वपूर्ण कदम तब उठाया गया जब ब्रिटिश कैबिनेट के तीन सदस्य भारत आये । ये कैबिनेट मिशन कहलाया । कैबिनेट मिशन का आगमन और भारतीय राजनीतिज्ञों से इसकी बातचीत संवैधानिक वार्ता का एक महत्त्वपूर्ण कदम था क्योंकि इसे युद्ध के उपरान्त की स्थिति को देखते हुये तुरन्त महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव करना आवश्यक था । मार्च 1946 को कैबिनेट-मिशन के तीनों सदस्य भारत आये । कैबिनेट-मिशन ने मई 1946 में अपने संवैधानिक प्रस्ताव प्रस्तुत किये जिससे कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग अपनी-अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सके । कैबिनेट-मिशन की मुख्य योजना इस प्रकार थी - इसने पाकिस्तान की मांग को अस्वीकार करते हुए कहा कि इससे संवैधानिक समस्या का समाधान होने में कोई सहायता नहीं मिलेगी । संविधान सभा के विषय में इस कमीशन का

कहना था कि इसका गठन एक अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा हो । प्रान्तीय विधान-सभाओं के सदस्यों को यह अधिकार देने की बात कही गयी कि वे अपने-अपने धार्मिक सम्प्रदायों के अनुसार पृथक् प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव करें । दस लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि चुनने का विचार रखा गया ।

कैबिनेट मिशन योजना में संविधान सभा के गठन के अतिरिक्त इसकी कार्यप्रणाली और अधिकारों के विषय में भी व्यापक प्रस्ताव किये गये । यह तो स्वीकारा गया कि यह सभा संविधान का निर्माण करेगी लेकिन इस सभा के कार्य करने में और इसके संविधान निर्माण में कई शर्तें लगायी गयी जिसमें से एक शर्त थी - प्रस्तावित केन्द्रीय सरकार के अधिकारों के विषय में इसी योजना के द्वारा अन्तरिम सरकार के गठन की बात कही गयी ।

1940 के निर्वाचन और संविधान सभा का गठन

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् 1935 के संविधान के अधीन प्रान्तों में चुनाव कराये गये जिसमें सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने भाग लिया । ये चुनाव संविधान सभाके गठन के लिये और देश के भविष्य के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुये क्योंकि इनसे कांग्रेस और मुस्लिम लीग की वास्तविक स्थिति काअनुमान हो गया ।

1946 के चुनाव घोषणा पत्र में कांग्रेस ने भावी संविधान निर्माण और

संविधान सभा के विषय में पुनः प्रकाश डाला । घोषणापत्र में कहा गया - "कांग्रेस का विचार है कि भविष्य के संविधान का स्वरूप संघीय हो जिसमें इकाइयों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हो और इसकी विधायिकायें वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जाय । प्रस्तावित संघ में सभी भाग अपनी इच्छानुसार सम्मिलित हो ।" इस मूल संवैधानिक स्वरूप के अतिरिक्त कांग्रेस की ओर से यह भी कहा गया कि इसके अनुसार एक स्वतन्त्र जनतांत्रिक राज्य की स्थापना हो जिसमें संविधान के अधीन सभी नागरिकों को मौलिक अधिकार तथा स्वतंत्रता प्राप्त हो ।" यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि 1946 के चुनाव के समय ही कांग्रेस ने मौलिक अधिकारों की एक लम्बी सूची जारी करके नागरिकों के अधिकारों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रकट की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि 1946 में ही कांग्रेस की यह धारणा बन गयी थी कि भविष्य में जो संविधान बने उसमें मौलिक अधिकारों की विस्तृत व्याख्या की जाय । कांग्रेस की घोषणापत्र में बारह मौलिक अधिकारों काउल्लेख किया गया है । इनमें पहला था, विचारों की स्वतन्त्रता, संगठन बनाने और कार्य करने की स्वतन्त्रता । दूसरा था, प्रत्येक को अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता । तीसरा मौलिक अधिकार यह बताया गया कि सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के कानून के सम्मुख समानता का अधिकार होगा । चौथे मौलिक अधिकार में जाति, धर्म आदि के आधार पर कोई भी भेदभाव न करने की बात स्वीकार की गयी । पाँचवे, अधिकार में यह दिलाने का आश्वास दिया गया था कि किसी भी सार्वजनिक नौकरी में धर्म, जाति के अनुसार कोई भेदभाव नहीं होगा।

छठा अधिकार सार्वजनिक स्थानों में आने-जाने के विषय में था । सांतवें अधि-कार के विषय में यह कहा गया कि कांग्रेस ऐसे नियम बनायेगी कि सभी को अस्त्र रखने का अधिकार हो । आठवां अधिकार सम्पत्ति के विषय में था जिसमें यह कहा गया कि किसी को भी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा । यदि ऐसी कोई स्थिति आयी तो यह कार्य कानून के अनुसार किया जायेगा । नवें अधिकार को परिभाषित करते हुये यह कहा गया कि राज्य सभी धर्मों के विषय में तटस्थता की नीति अपनायेगा । दसवें अधिकार द्वारा वयस्क मताधिकार देने की बात कही गयी । ग्यारहवें अधिकार में यह कहा गया कि राज्य सभी को निःशुल्क और अनिवार्य आधारभूत शिक्षा प्रदान करेगा और बारहवें अधिकार में नागरिकों के रहने, बसने और व्यापार करने के अधिकार को सुरक्षित रखने की बात कही गयी ।

यह भी उल्लेखनीय है कि इसी चुनावी घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया कि ऐसे लोगों को राष्ट्रीय जीवन में ऊपर उठने का अवसर दिया जायेगा जो जनसंख्या की दृष्टि से पिछड़े हुये हो । इस प्रकार पिछड़े हुये वर्गों के उत्थान के विषय में कांग्रेस इसी समय से सचेत थी और इसी कारण जनजाति के उत्थान के विषय में भी चर्चा की गयी ।

1946 के चुनावों के कांग्रेसी घोषणा-पत्र की चर्चा यहाँ इस कारण की गयी है क्योंकि इसमें कांग्रेस की ओर से भावी संविधान के स्वरूप की परिकल्पना

और संविधान सभा द्वारा बनाये जाने वाले संविधान के कार्यों के विषय में विचार किया गया । स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त कांग्रेस के विचार स्पष्ट होने लगे । भारत छोड़ो आन्दोलन के उपरान्त लम्बे अन्तराल के बाद कांग्रेस जन पर्याप्त विचार-विमर्श करके भावी राजनीति की चर्चा कर रहे थे और उन्होंने आगामी संविधान के स्वरूप का जो चित्र प्रस्तुत किया । वह इस घोषणा-पत्र से स्पष्ट होता है ।

संविधान सभा के चुनाव और संगठन

जुलाई 1946 के अन्त तक ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में विधानसभा के लिये चुनाव सम्पन्न कर लिये गये । देशी रियासतों के तिरानवें प्रतिनिधियों को चुनने की प्रक्रिया के बारे में विचार-विमर्श चलता रहा । संविधान सभा के गठन का वास्तविक स्वरूप नीचे वर्णित है -

कैबिनेट-मिशन के प्रस्तावों के अनुसार प्रान्तों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया जिनमें अलग-अलग राजनीतिक दलों की स्थिति का मूल्यांकन भी नीचे दिया जा रहा है । चुनाव की समाप्ति पर वास्तविक स्थिति इस प्रकार थी - "वर्ग अ" - इसमें मद्रास, बम्बई, उड़ीसा, यू.पी., सी.पी., बिहार, कुर्ग, दिल्ली, अजमेर तथा मारवाड़ सम्मिलित थे । इसमें कांग्रेस को 164 सीटों पर विजय मिली जिसमें 162 सीटें सामान्य और दो मुस्लिम सीटें थी । इस

वर्ग में मुस्लिम लीग को उन्नीस और स्वतन्त्र सदस्यों को सात स्थान मिले । स्पष्टतः अ वर्ग में कांग्रेस का वर्चस्व था । "वर्ग ब" में चार प्रान्त थे जो उत्तर पश्चिम सीमा की ओर थे - पंजाब, सिन्ध, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त बलूचिस्तान । इसमें राजनीतिक दलों की स्थिति इस प्रकार थी - कांग्रेस नौ, मुस्लिम लीग उन्नीस, यूनियन पार्टी तीन, स्वतन्त्र एक एवं सिक्खों की सीटें चार जो रिक्त रही क्योंकि सिक्खों ने चुनाव का बहिष्कार किया। "वर्ग स" में दो प्रान्त थे - बंगाल और असम । इसमें कांग्रेस को बत्तीस और मुस्लिम लीग को पैंतीस स्थान प्राप्त हुए । साम्यवादियों को एक, अनुसूचित जाति फेडरेशन को एक और कृषक प्रजा पार्टी को एक स्थान प्राप्त हुआ ।

संविधान सभा में राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व इस प्रकार था - कांग्रेस 201, मुस्लिम लीग - 73, स्वतन्त्र - आठ, यूनियन पार्टी - तीन अनुसूचित जाति फेडरेशन,- एक, कृषक प्रजापार्टी - एक, सिक्खों के प्रतिनिधि चार जो खाली रही थी । यदि इस संविधान सभा के कुल 296 सदस्यों को देखा जाय तो यह स्पष्ट था कि कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था और भावी संविधान के निर्माण में कांग्रेस निर्णायक भूमिका निभा सकती थी । परन्तु कैबिनेट-मिशन के कुछ प्रस्तावों को लेकर और प्रस्तावों को किस प्रकार क्रियान्वितकिया जाय, इस प्रश्न को लेकर कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच लगातार मतभेद बने रहे । इसी कारण कभी भी मुस्लिम लीग 1946 से लेकर देश की स्वतन्त्रता तक संविधान सभा में सम्मिलित नहीं हुयी । देशी रियासतों के प्रतिनिधि संविधान सभा से दूर रहे ।

यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हुयी तो इसका मुख्य कारण था - कैबिनेट मिशन योजना का यह प्रस्ताव कि प्रान्तों को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जाय और अलग-अलग प्रान्त समूहों को अपने-अपने संविधान बनाने का अवसर हो । इससे अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए और कांग्रेस ने यह आवश्यक समझा कि संविधान सभा के अधिकारों के विषय में पूरी स्थिति स्पष्ट कर ली जाय । जब कांग्रेस की ओर से यह प्रयास किये गये तो कांग्रेस के सुझावों पर ब्रिटिश सरकार ने और मुस्लिम लीग ने आपत्तियाँ की।

संविधान सभा के गठन और इसके अधिकारों के प्रश्न को कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में जवाहर लाल नेहरू ने उठाया । उनकी भूमिका की आलोचना मौलाना आजाद ने इन शब्दों में की । उनका कहना है कि "इस समय ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनायें हुयी जिन्होंने इतिहास की धारा को बदल दिया । कभी-कभी जवाहर लाल भावनाओं में बह जाते हैं । इतना ही नहीं वे कभी-कभी सैद्धान्तिक प्रश्नों में ऐसे उलझ जाते हैं कि वे स्थिति का वास्तविक आंकलन नहीं कर पाते हैं ।"[10] इस आलोचना का उत्तर देते हुए एस॰ गोपाल का कथन है कि जवाहर लाल को उत्तरदायी मानना उचित नहीं होगा ।[11] इस लेखक का कहना है - "जवाहर लाल नेहरू ने जानबूझकर वक्तव्य दिये और उनके वक्तव्य कांग्रेस की नीतियों के अनुकूल थे ।[12]

ऐसी स्थिति में संविधान सभा के अधिकारों के विषय में जवाहरलाल

नेहरू के दृष्टिकोण पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है और यह भी समझना होगा कि कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों के उपरान्त संविधान सभा के आयोजन गठन तथा कार्यों के विषय में किस प्रकार की समस्यायें आयी । जवाहर लाल नेहरू ने दो टूक शब्दों में दस जुलाई को बम्बई के प्रेस सम्मेलन में कांग्रेस की स्थिति को स्पष्ट किया । उनका प्रसिद्ध वाक्य यह था - हमने केवल यह स्वीकार किया है कि हम संविधान सभा के अन्दर जायेंगे और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं ।" इसके आगे उन्होंने कहा - हम वहाँ जाकर क्या करेंगे । इसका निर्णय करने के लिये हम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है । हमने किसी भी एक बात के विषय में किसी को कोई आश्वासन नहीं दिया है । जवाहरलाल नेहरू का कहना था कि लगभग कैबिनेट मिशन ने संविधान सभा की स्वायत्तता को स्वीकारा है । वे इस बात पर जोर दे रहे थे कि संविधान सभा अपने कार्यों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थी और उसके ऊपर कोई अंकुश नहीं था। उनका कहना था कि संविधान सभा की स्वायत्तता को सीमित करने के लिये जो दो शर्तें लगायी जा रही थी उन्हें कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया था। ये दो शर्तें थी - अल्पसंख्यकों के विषय में पूरी व्यवस्था और भारत तथा ब्रिटेन के बीच में की जाने वाली सन्धि । इन दो शर्तों के विषय में उनका कहना थाकि अल्पसंख्यकों के विषय में निर्णय करने की हमारी समस्या थी और इस विषय में ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं थी। दूसरी शर्त के बारे में जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि हम ब्रिटेन से संधि के लिए तैयार होंगे यदि ब्रिटेन भारत के साथ

बराबरी का व्यवहार करेगा और अगर कोई संधि लादने की कोशिश की गयी तो हम इसका विरोध करेंगे । कांग्रेस की स्थिति को स्पष्ट करते हुये जवाहर लाल नेहरू कह रहे थे कि संविधान सभा के कार्यों पर कोई सीमा नहीं होनी चाहिये । उसके ऊपर कोई अंकुश नहीं होना चाहिये तथा प्रान्तों के वर्गीकरण पर निर्णय का अधिकार संविधान सभा को होगा ।[13]

अब प्रश्न उठाया गया है कि इन निर्णायक महीनों में जब संविधान सभा के आकार और इसके अधिकारों के सम्बन्ध में गम्भीर बहस छिड़ी हुयी थी तब कांग्रेस क्या सोच रही थी। यह विचारना उपर्युक्त होगा कि कांग्रेस के दृष्टिकोण में और जवाहरलाल के दृष्टिकोण में क्या कोई अन्तर था और कांग्रेस ने भावी संविधान के विषय में कैबिनेट मिशन प्रस्तावों के उपरान्त क्या विचार किया ? इस समय से कांग्रेस ने केन्द्र को कमजोर करने वाले प्रस्तावों का खुला विरोध करने का निर्णय लिया और चौबीस मई 1946 को कांग्रेस कार्यसमिति ने बम्बई अधिवेशन ने एक लम्बा प्रस्ताव पारित करके भावी संविधान के विषय में अपनी स्थिति स्पष्ट की । इस प्रस्ताव का मुख्य अंश इस प्रकार था -

"हमारे उद्देश्य इस प्रकार हैं - भारत के लिए स्वतन्त्रता, एक शक्तिशाली हालाँकि सीमित केन्द्रीय सत्ता, प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता, केन्द्र और इकाइयों में प्रजातांत्रिक स्वरूप की स्थापना, प्रत्येक नागरिक को मौलिक अधिकार की गारण्टी जिससे उसे विकास के समान अवसर मिले और प्रत्येक समुदाय को अपना

जीवन अपनी इच्छानुसार बिताने और विशाल समूह का भाग मानने के पूरे अवसर हों।"[14]

कुछ समय बाद बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ जिसमें भावी संविधान के स्वरूप और संविधान सभा के विषय में लम्बे प्रस्ताव पारित किये गये। इन प्रस्तावों का एक अंश इस प्रकार था -"स्वतन्त्रता प्राप्ति कांग्रेस का लक्ष्य है और उसके द्वारा हम संगठित प्रजातांत्रिक संघ स्थापित करना चाहते हैं जिसकी केन्द्रीय शक्ति इस प्रकार की हो जिससे विश्व के राष्ट्र उसे सम्मान की दृष्टि से देख सके और प्रान्तों को अधिकाधिक स्वायत्तता मिले।"[15]

कांग्रेस के इन प्रस्तावों से स्पष्ट है कि वह दुविधा की स्थिति में थी और इस दुविधा का राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर समाधान चाहती थी। उसके सम्मुख एक विकल्प यह था कि वह प्रान्तों को अधिक से अधिक अधिकार देने के सिद्धान्त को स्वीकार कर ले जैसा कि ब्रिटिश प्रस्तावों में निहित था और जैसा कि मुस्लिम लीग चाहती थी। लेकिन धीरे-धीरे कांग्रेस को समझ में आने लगा कि भारत ऐसे विशाल देश में यदि केन्द्रीय सत्ता पर्याप्त शक्तिशाली नहीं हुयी तो न तो उसे देश में ही सम्मान मिलेगा औरन अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में। कांग्रेस के लिये यह एक आधारभूत प्रश्न हो गया और उसने इस पर लगातार जोर देते हुये प्रस्ताव पारित किये।

दिसम्बर 1946 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मेरठ में हुआ । इस अधिवेशन में भी संविधान निर्माण का प्रश्न छाया रहा । अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा पारित प्रस्ताव का एक अंश इस प्रकार था - "इस समिति का यह निश्चित मत है कि स्वतन्त्र भारत के संविधान का निर्माण भारत के लोग करें और यथासंभव व्यापक सहयोग के आधार पर ऐसे संविधान का निर्माण हो । किसी भी बाहरी शक्ति का इसमें कोई भी हस्तक्षेप न हो और एक प्रान्त दूसरे प्रान्त पर कोई दबाव न डालें ।"[16]

कांग्रेस ने यह अनुभव किया कि कैबिनेट मिशन योजना प्रस्तुत करने के उपरान्त भी ब्रिटिश सरकार द्वारा और भारत की नौकरशाही द्वारा प्रस्तावित संविधान सभा की सीमा को सीमित करने के प्रयास जारी रहे । इसी कारण कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के मध्यमें विवादों का क्रम चलता रहा । जवाहर लाल नेहरू ने अनुभव किया कि ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार मुस्लिम लीग के नेताओं की पीठ थपथपा रही थी और उन्हें समर्थन दे रही थी।

संविधान सभा के अधिकारों और कार्यों के विषय में आरम्भिक मतभेद

कांग्रेस के प्रस्तावों और जवाहर लाल नेहरू के वक्तव्यों को उद्धृत करते हुये अब तक यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि संविधान सभा के आरम्भ होने के पहले से ही इसकी कार्य-विधि और इसके अधिकारों के विषय

में कांग्रेस, मुस्लिम लीग और ब्रिटिश सरकार के अलग-अलग तर्क थे । इसका मुख्य कारण था - कैबिनेट मिशन द्वारा प्रान्तों का तीन वर्गों में बांटना और ऐसा वर्गीकरण करके अप्रत्यक्ष रूप से मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग को आंशिक रूप से स्वीकारना । कैबिनेट मिशन के इन्हीं प्रस्तावों के कारण संविधान सभा की कार्यवाही शुरू होने के पूर्व ही यह विवाद के घेरे में आ गयी । कांग्रेस का तर्क था कि इसे पूर्ण स्वायत्त संस्था के रूप में कार्य करने का अवसर होना चाहिये । ब्रिटिश सरकार संविधान सभा द्वारा प्रस्तावित संविधान को स्वीकारने पर कोई न कोई अंकुश लगाने की सोच रही थी। ऐसी स्थिति में कांग्रेस ने और भी जोर देकर यह कहा कि संविधान सभा स्वयं अपने अधिकारों और कार्यों का निर्णय करेगी । इसका अर्थ यह हुआ कि कांग्रेस यह चाहती थी कि सभी राजनीतिक दल संविधान सभा में सम्मिलित होने के उपरान्त भावी संविधान पर विचार करें ।

लेकिन मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण के कारण और मोहम्मद अली जिन्ना के अड़ियल दृष्टिकोण के कारण संविधान सभा की कार्यवाही आरम्भ होने में विलम्ब हुआ । जिन्ना को न तो जवाहर लाल नेहरू के तर्क स्वीकार थे और न कांग्रेस के तथा उनकी इच्छा यह थी कि ब और स प्रान्तों में मुस्लिम लीग को वर्चस्व प्राप्त हो और उसे संविधान का स्वरूप निर्धारित करने की स्वतंत्रता हो । लेकिन इसमें भी एक अड़चन थी । प्रश्न यह था कि क्या सभी निर्णय बहुमत के आधार पर इन प्रान्तों में हो अथवा अलग-अलग सम्प्रदायों की इच्छानु-

सार ही आगे की कार्यवाही हो । मुस्लिम लीग को इन दोनों वर्गों में सामान्य बहुमत प्राप्त था तथा अगर केवल बहुमत के आधार पर प्रान्तीय इकाइयों को निर्णय करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती तो वे इन दोनों इकाइयों में जैसा चाहे संविधान बना लेते और जैसा चाहे केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की व्याख्या कर लेते। इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि क्या बंगाल में बहुमत होने के कारण आसाम के प्रतिनिधियों को इन दोनों प्रान्तों के समूह में किसी भी प्रकार के अधिकार न दिये जाय । कांग्रेस को यह स्थिति स्वीकार नहीं थी और इसी कारण कांग्रेस ने इन वर्गों में मुस्लिम लीग के प्रभाव जमाने के अवसर का विरोध किया । यह विवाद लगातार गतिशील रहा क्योंकि ब्रिटिश सरकार मुस्लिम लीग का समर्थन करती रही ।

प्रश्न यह उठाया गया कि क्या कांग्रेस ने संविधान सभा का अधिवेशन आरम्भ होने के पूर्व ही नीति सम्बन्धी आपत्तियाँ उठाकर उचित कार्य किया अथवा नहीं । क्योंकि यह तर्क दिया गया है कि पहले कांग्रेस को प्रतीक्षा करनी चाहिये थी, मुस्लिम लीग को संविधान सभा में सम्मिलित होने का अवसर देना चाहिए था और बाद में उसे राजी करने की कोशिश करनी चाहिये थी।[17] लेकिन कांग्रेस के रूख के कारण मोहम्मद अली जिन्ना को संविधान सभा की कार्यवाही के बहिष्कार करने का अवसर मिल गया । फिर भी सभी पक्ष यह सोचते रहे कि

अधिवेशन की कार्यवाही आरम्भ होने के उपरान्त मुस्लिम लीग को संविधान सभा में सम्मिलित होने के लिए सहमत कर लिया जायेगा । आरम्भिक गति-रोध को तोड़ने के लिये पहले संविधान सभा की बैठक बुलाना और बाद में मुस्लिम लीग को सहमत करनेकी नीति अपनायी गयी ।

संविधान सभा के अधिवेशन का आरम्भ

आरम्भिक लम्बी बहस के उपरान्त और पर्याप्त प्रतीक्षा करने के बाद तत्कालीन वायसराय ने यह निश्चय किया कि मुस्लिम लीग की उपस्थिति के बिना संविधान सभा की कार्यवाही आरम्भ कर दी जाय । नौ दिसम्बर 1946 को संविधान सभा ने अपना पहला अधिवेशन आरम्भ किया । यह कांग्रेस के दृष्टिकोण की विजय थी क्योंकि कांग्रेस निरन्तर यह कह रही थी कि किसी एक दल के असहयोग के कारण संविधान सभा का अधिवेशन न बुलाना तर्क-संगत नहीं होगा ।

कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य सच्चिदानन्द सिन्हा को आरम्भिक अधि-वेशन का कार्यवाहक अध्यक्ष नियुक्त किया गया और कुछ समय बाद ही राजेन्द्र प्रसाद को संविधान सभा का अध्यक्ष चुन लिया गया । इस प्रकार संविधान सभा ने अपनी औपचारिक कार्यवाही आरम्भ कर दी । इस सभा में दो सौ पाँच सदस्य उपस्थित थे जिसमें नौ महिलायें थी । संविधान सभा के सदस्य मुस्लिम लीग के सदस्यों की अनुपस्थिति से प्रभावित हुये और निरन्तर यह भावना बनी रही कि

संविधान सभा आरम्भिक दिनों में मन्द गति से काम करें जिससे कि मुस्लिम-लीग के सदस्यों को संविधान सभा में सम्मिलित होने का अवसर मिल जाय । पहले अधिवेशन की कार्यवाही का सबसे महत्वपूर्ण पहलू था - जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तावित उद्देश्यों का प्रस्ताव । प्रस्ताव इस प्रकार था - प्रस्ताव में कहा गया कि संविधान सभा का उद्देश्य एक स्वतन्त्र और सार्वभौम गणतन्त्र की स्थापना करना है । ऐसे प्रस्तावित गणतन्त्र का संविधान बनाना इसका लक्ष्य था। प्रस्तावित संघ में सभी देशी राज्यों और क्षेत्रों को सम्मिलित करने का प्रावधान किया गया और यह भी कहा गया कि शासन की समस्त शक्ति जनता के हाथों में होगी । जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में यह आश्वासन दिया कि कांग्रेस दलगत राजनीति और वर्गों की राजनीति से ऊपर उठकर कार्य करने का लक्ष्य रखती है । इससे यह प्रकट होता है कि जवाहरलाल मुस्लिम लीग के सदस्यों को सन्तुष्ट करने का लगातार प्रयास कर रहे थे ।[18]

संविधान सभा का दूसरा अधिवेशन

कुछ समय उपरान्त बीस जनवरी 1947 को संविधान सभा का दूसरा अधिवेशन आरम्भ हुआ । कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के सदस्यों को सम्मिलित करने की पर्याप्त प्रतीक्षा की और अन्ततः बाइस जनवरी 1947 को उद्देश्य के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया । यह अधिवेशन छः दिन चला और इसमें संविधान सभा की कार्यवाही से सम्बन्धित कुछ अन्य कार्य किये गये जिनमें सबसे मुख्य था -

कुछ समितियों का निर्माण जो विशेष कार्यों को करने के लिये बनायी गयी थी।

कांग्रेस की नीति थी – एक ओर संविधान सभा के कार्यों को जारी रखना लेकिन दूसरी ओर धीमी गति से आगे बढ़ना जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर मुस्लिम लीग को सम्मिलित करने की परिस्थिति बनी रहे । आरम्भ से ही मुस्लिम लीग के असहयोग से संविधान सभा के कार्यों में बाधा पड़ रही थी ।

इसी बीच मुस्लिम लीग की कार्य समिति ने करांची में अपना अधिवेशन किया और अपनी वस्तुस्थिति स्पष्ट की । इस समय अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग सम्मिलित थी। अतः यह प्रश्न था कि कैबिनेट मिशन योजना के अधीन या तो राजनीतिक दल पूरी तरह से कार्य करें अथवा पूरी तरह से इससे दूर रहें । कांग्रेस अन्तरिम सरकार में सम्मिलित थी और देश का शासन यह अन्तरिम सरकार चला रही थी। मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार में तो सम्मिलित थी परन्तु संविधान निर्माण में उसने कोई सहयोग नहीं किया । अतः कांग्रेस ने यह मांग की कि मुस्लिम लीग को अन्तरिम सरकार से भी अलग कर दिया जाय । यही पर एक विवाद का प्रश्न यह भी उठा कि इस असहयोग की स्थिति में कैबिनेट मिशन को कारगर माना जाय अथवा नहीं । तत्कालीन वायसराय लार्ड बेवल और ब्रिटिश सरकार के सभी प्रयासों के बाद भी जनवरी 1947 में दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच रस्साकसी चलती रही । केवल इतना ही

नहीं, मुस्लिम लीग ने अपने मत पर जोर डालने के लिये सीधी कार्यवाही करने की धमकी दी । जवाहरलाल नेहरू ने तेरह फरवरी को संविधान के गतिरोध के लिये वायसराय को उत्तरदायी माना ।

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की संसद में घोषणा

इस संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिये और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच बढ़ते मतभेद को शान्त करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने अनेक विकल्पों पर विचार किया । अन्ततः ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने एक अप्रत्याशित और साहसिक कदम उठाने का निर्णय लिया जिसने सम्पूर्ण संवैधानिक प्रक्रिया को नया मोड़ दे दिया । उसने ब्रिटिश संसद में एक महत्त्वपूर्ण घोषणा करते हुये भारत से ब्रिटिश सत्ता को समाप्त करने की घोषणा की । उसने कहा -"कि ब्रिटिश सरकार का यह निश्चित उद्देश्य है कि जून 1948 के पूर्व ऐसे सभी उपाय किये जाय जिससे सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंप दी जाय ।" सत्ता सौंपने की तिथि निर्धारित करने से सम्पूर्ण राजनीतिक वातावरण बदल गया और सत्ता हस्तांतरण का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न बन गया । अपनी घोषणा में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने यह भी कहा कि भारत में अनिश्चय की स्थिति को लम्बे समय तक टालने से किसी को लाभ नहीं होगा और उसने ब्रिटिश सरकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा - "ब्रिटिश सरकार को सोचना होगा कि निर्धारित तिथि के समय ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार की सत्ता किसे सौंपी जाय या तो सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार को अथवा कुछ क्षेत्रों की प्रान्तीय

सरकारों को अथवा किसी अन्य प्रकार से जो भारत के हित में हो ।"[20] प्रधान-मन्त्री की घोषणा से सम्पूर्ण परिदृष्य ही बदल गया क्योंकि इस घोषणा में अप्रत्यक्ष रूप से देश के विभाजन की स्थिति को स्वीकार किया गया था । स्वाभाविक रूप से मुस्लिम लीग को इससे बढ़ावा मिला और एक प्रकार से यह निश्चित हो गया कि वह भविष्य में संविधान सभा में लौटेगी नहीं । राजनीतिक वातावरण सत्ता हस्तांतरण की ओर मुड़ गया । संविधान निर्माण के प्रश्न के पूर्व यह निर्णय करना आवश्यक हो गया कि सत्ता हस्तान्तरण भारत में किस प्रकार हो, देश का विभाजन हो अथवा नहीं और यदि देश का विभाजन हो तो फिर इसका स्वरूप क्या हो ?

ब्रिटिश सरकार ने यह भी निश्चित किया कि सत्ता हस्तांतरण के सभी पहलुओं पर वार्ता करने के लिये एक नये वायसराय की नियुक्ति की जाय। मार्च 1947 को इस एक मात्र महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा करने के लिए लार्ड माउन्ट-बेटन भारत आये और सत्ता के हस्तांतरण के प्रश्न पर विचार का प्रश्न गतिशील रहा ।

अब यह प्रायः स्पष्ट हो चुका था कि पहले सत्ता हस्तान्तरण की तिथि और उसका स्वरूप सुनिश्चित होगा और उसके बाद ही संविधान सभा से जुड़े हुए प्रश्न निश्चित होंगे ।

संविधान सभा के स्वरूप में परिवर्तन

जुलाई 1947 को संविधान सभा का दूसरा रूप स्पष्ट हुआ । छत्तीस

देशी राज्यों के प्रतिनिधि भी इसी समय संविधान सभा में सम्मिलित हुये । पन्द्रह अगस्त 1947 को जब देश स्वतन्त्र हुआ तो भारतीय संविधान सभा पूर्ण रूप से स्वतन्त्र संस्था बन गयी । कैबिनेट मिशन योजना के अधीन इसके कार्यों पर जो अंकुश लगाये जा रहे थे वे समाप्त हो गये और स्वतन्त्र भारत के लिये संविधान निर्माण करने का कार्य इसे सौंप दिया गया ।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 के द्वारा यह निश्चित किया गया कि संविधान निर्माण और विधि निर्माण के समस्त अधिकार संविधान सभा में निहित होंगे । संविधान सभा ने एक विशेष समिति बनाकरके सभी प्रावधानों का अध्ययन किया और यह निश्चित किया कि संविधान सभा दोनों कार्यों को साथ-साथ करेगी । एक ओर इसके द्वारा स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाया जायेगा और दूसरी ओर नये संविधान के प्रभावी होने तक यह सभी विधान सभा के कार्यों को भी पूरा करेगी । देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को पूरी तरह से संविधान सभा में भाग लेने का अधिकार दे दिया गया ।[20]

नयी परिस्थितियों के अनुसार संविधान सभा को स्वयं अपनी कार्य-वाही निश्चित करने का पूर्ण अधिकार मिल गया और जैसी आवश्यकता पड़ी उसने उसी प्रकार के नियम बना लिये ।

संविधान सभा ने संविधान निर्माण के कार्य को पूरा करने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया और उसने आरम्भिक कार्यवाहियाँ शीघ्र ही आरम्भ कर दी।

उन्तीस अगस्त 1947 को संविधान निर्माण के लिये एक छोटी समिति बनायी गयी जिसे संविधान का प्रारूप तैयार करने का कार्य सौंपा गया । इस समिति को यहअधिकार दिया गया कि वह उस समय तक संविधान सभा में प्रकट किये गये विचारों को ध्यान में रखते हुए संविधान का निर्माण करें । यह ध्यान देने योग्य है कि कांग्रेस ने दलगत राजनीति से ऊपर उठकर विशेषज्ञों के सुझाव से कार्य करने का निर्णय लिया । इस समिति में सात सदस्य थे, जो इस प्रकार थे - बी॰आर॰अम्बेडकर, गोपालस्वामी अयंगर, अलादि किशनास्वामी अय्यर, के॰एम॰ मुन्शी, सैय्यद मोहम्मद सैदुल्ला, बी॰एल॰ मित्रर और डी॰पी॰खेतान। इस समिति में केवल एक कांग्रेसी सदस्य था जो इस तथ्य को दर्शाता है कि समिति को कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गयी ।[21] इस समिति का अध्यक्ष डॉ॰ बी॰आर॰ अम्बेडकर को बनाया गया जो केन्द्र सरकार में कानूनी मन्त्री थे और जिन्हें कानून के ज्ञान के कारण इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया गया था। डॉ॰ बी॰ आर॰ अम्बेडकर ने अथक परिश्रम करके और बड़ी सूझबूझ के साथ संविधान का प्रारूप तैयार किया और जब प्रारूप तैयार हो गया तो व्योरेवार बहस संविधान सभा में लम्बे समय तक चलती रही । डॉ॰ बी॰आर॰ अम्बेडकर ने निरन्तर प्रारूप से सम्बन्धित आपत्तियों, प्रश्नों आदि पर विचार किया और उत्तर दिये । अन्ततः तीन वर्षों के अथक परिश्रम के बाद जो संविधान तैयार हुआ, वह छब्बीस जनवरी 1950 को प्रभावी हो गया ।

यह एक संयोग ही था कि संविधान सभा का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ही हो गया । इसके मूल उद्देश्यों के चर्चा का क्रम आरम्भ हो चुका था और इस कारण स्वतन्त्रता के पश्चात् संविधान निर्माण की प्रक्रिया को गतिशील बनाने में तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ । यह भी संयोग ही था कि आरम्भ से कांग्रेस संविधान सभा की स्वायत्तता की मांग कर रही थी और इस तथ्य पर दृढ़ थी कि संविधान निर्माण के कार्य में उसके ऊपर कोई अंकुश न लगाया जाय । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उसे स्वतः पूर्णस्वायत्तता प्राप्त हो गयी और यह संविधान सभा बिना किसी बाधा के अपने कार्य को पूरा करने में जुट गयी । प्रारूप तैयार करने वाली समिति के सदस्यों के चुनाव से यह प्रकट हो गया कि कांग्रेस ने विशेषज्ञों के सुझाव से संविधान निर्माण करना उचित समझा और इस कार्य को केवल दलगत राजनीति तक सीमित नहीं रखा । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कांग्रेस ने प्रारूप तैयार करने और संविधान के स्वरूप का निर्णय करने में प्रभावी भूमिका नहीं निभाई क्योंकि जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद आदि प्रमुख नेताओं ने प्रारूप तैयार करने से लेकर संविधान की धाराओं को निश्चित करने में दिशा प्रदान की । इसी से यह कहा जा सकता है कि जिन महान् नेताओं ने स्वतन्त्रता संघर्ष का नेतृत्व किया उन्हीं के दिशा निर्देश में संविधान निर्माण का कार्य पूरा हुआ ।

सन्दर्भ

1. ए. सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड तीन, पृ. 65.

2. कांग्रेस वर्किंग कमेटी का प्रस्ताव, पटना, दिसम्बर 1934.
   ए. एम. जैदी एण्ड एस. जी. जैदी (सं.) दि ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खण्ड 10, पृ. 111.

3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रस्ताव, फैजपुर, 1936, वही, पृ. 251.

4. एन. एन. मित्रा (सं.), इंडियन एन्युअल रजिस्टर, 1940, खण्ड एक, पृ. 140.

5. बी. एन. पाण्डेय (सं.) ए सेन्टेनरी हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, पृ. 452.

6. ए. एम. जैदी (सं.), ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, पृ. 227, ऑल इण्डिया कमेटी का प्रस्ताव, बम्बई, 8 अगस्त 1942.

7. वही, पृ. 238.

8. वही, पृ. 240.

9. वही, पृ. 241.

10. ए. के. आजाद, इण्डिया विन्स फ्रीडम, (बम्बई, 1959), पृ. 138.

11. एस. गोपाल, जवाहर लाल नेहरू, खण्ड एक, पृ. 327.

12. वही, पृ. 327.

13. ए.सी.बनर्जी, इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डाकूमेन्टस, खण्ड चार, पृ. 229-233.

14. ए.एम. जैदी (सं.) ए सेन्चुरी ऑफ स्टेट क्राफ्ट इन इण्डिया, कांग्रेस कार्य समिति का प्रस्ताव, बम्बई, 24 मई 1946, पृ. 242.

15. वही, पृ. 246.

16. ए.सी. बनर्जी, इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डाकूमेन्टस, खण्ड चार, पृ. 342.

17. एस. गोपाल, जवाहर लाल नेहरू, खण्ड एक, पृ. 328.

18. आर.सी.मजूमदार, हिस्ट्री आफ दि फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, खण्ड तीन, पृ. 488-489.

19. ए.सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड तीन, पृ. 363.

20. इण्डियन एन्युवल रजिस्टर, 1946, खण्ड दो, पृ. 69.

21. ए.सी. बनर्जी, दि कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ दि इण्डिया, खण्ड तीन, पृ. 365.

22. वी. शिवाराव, दि फेमिंग आफ दि कांस्टीट्यूशन , खण्ड एक, पृ. 18.

नवम् अध्याय

उपसंहार

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रूपान्तरण के साथ-साथ संवैधानिक सुधारों के प्रति उसके दृष्टिकोण और नीतियों में परिवर्तन आया । इस कारण कांग्रेस के दृष्टिकोण में लगातार गतिशीलता दिखाई देती है । प्रस्तुत अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि धीरे-धीरे कांग्रेस का दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगा । उसे ब्रिटिश सरकार के इरादों को समझना आसान हो गया । इसी से ब्रिटिश सरकार के प्रति कांग्रेस की निर्भरता लगातार कम होते हुये प्रायः समाप्त की स्थिति तक आ गयी । 1885 से 1919 की अवधि में कांग्रेस ब्रिटिश सरकार पर निर्भर रही । उसने यह आशा की कि ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश संसद भारत में भी उन्हीं प्रजातांत्रिक मूल्यों और सिद्धान्तों को अपनायेंगे जो उन्होंने अपने देश में अपनाये थे और कुछ उपनिवेशों में भी लागू किये थे परन्तु समय के साथ-साथ कांग्रेस को यह स्पष्ट होता गया कि अंग्रेजों का यह उदारवादी चेहरा उनके देश तक तथा कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि गोरी जाति के देशों तक ही सीमित था । जब यह प्रकट हो गया कि साम्राज्यवादी शासक केवल अपने हितों की सोच रहे थे तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भी 1919 के आसपास नयी दृष्टि से सोचना पड़ा । इस प्रकार हम 1919 के वर्ष को एक निर्णायक वर्ष मान सकते हैं । इस समय ब्रिटिश सरकार, ब्रिटिश संसद और ब्रिटिश जनता पर विश्वास करने और उसकी ओर मुँह ताकने का क्रम

लगभग समाप्त हो गया था । इसी समय से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने नये सिरें से संवैधानिक परिवर्तनों के प्रति रूख अपनाने की बात सोची । प्रस्तुत अध्ययन में आरम्भिक तीन अध्यायों में कांग्रेस की उदारवादी नीतियों की चर्चा यथासम्भवकरते हुये यह उल्लेख किया गया है कि 1919 का भारत सरकार अधिनियम पारित होने के साथ-साथ कांग्रेस के रूख के बदलाव के स्पष्ट चिन्ह दिखलाई देने लगे तभी तो कांग्रेस ने 1919 के अधिनियम द्वारा नियोजित विधानसभाओं के चुनावों का बहिष्कार करने का निर्णय किया और महात्मा गांधी ने स्पष्ट रूप से इन विधान सभाओं की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाया । लम्बे विचार-विमर्श के उपरान्त जब यह अधिनियम स्वीकृत हुआ तो कांग्रेस इससे तनिक भी सन्तुष्ट नहीं हुयी क्योंकि भारत में प्रतिनिधि प्रणाली लागू करने का जो वायदा भारत सचिव ने अगस्त 1917 की घोषणा में किया था, वह पूरा होता हुआ नहीं दिखाई दिया । जब अधिनियम में ही इसके प्रावधान नहीं किये गये तो फिर भारत में संसदीय प्रणाली लागू होने का कांग्रेस का सपना टूटता हुआ दिखाई दिया । कांग्रेस के धैर्य की यह परीक्षा थी । लम्बे समय तक यह संस्था भारत में उसी प्रकार की प्रतिनिधि शासन व्यवस्था और लोकतांत्रिक मूल्यों को अपनाये जाने पर बल दे रही थी जैसी व्यवस्था ब्रिटेन में थी । लेकिन 1919 के अधिनियम द्वारा ऐसे कोई भी प्रयास जब नहीं किये गये तो कांग्रेस ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ करने का निर्णय लिया ।

इस अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि संवैधानिक परिवर्तन करते समय ब्रिटिश सरकार के अपने साम्राज्यवादी लक्ष्य थे । वह भारत में ब्रिटिश सत्ता की जड़ों को यथासम्भव सुदृढ़ बनाने की आधारभूत नीति के अनुसार चल रही थी और राष्ट्रीय आन्दोलन को उसने एक चुनौती के रूप में देखा । जब कांग्रेस ने राष्ट्रीय शक्तियों को संगठित करके आन्दोलनात्मक संघर्ष तीव्र किया तो ब्रिटिश सरकार ने प्रतिनिधि संस्थाओं को कार्य करने देने की औपचारिकता आरम्भ की । 1919 के अधिनियम द्वारा गठित ये प्रतिनिधि संस्थायें नाम मात्र की प्रतिनिधि संस्थायें थी क्योंकि ये सीमित प्रतिनिधित्व के आधार पर बनायी गयी थी। इनके चुनावों में मत देने का अधिकार दस प्रतिशत से अधिक लोगों को नहीं था। अतः ब्रिटिश सरकार ने चाहा था कि कुछ संवैधानिक उपाय करके और नाममात्र की प्रतिनिधि संस्थाओं को गठित करके तथा पेचीदी द्वैध-शासन प्रणाली को प्रान्तों में लागू करके कांग्रेस के स्वराज्य संघर्ष का सामना किया जा सकता था । अतः आवश्यकता यह है कि संवैधानिक सुधारों के प्रति ब्रिटिश सरकार के वास्तविक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए कांग्रेस की नीतियों एवं दृष्टिकोणों की चर्चा की जाय और यही प्रयास प्रस्तुत अध्ययन में करने का निरन्तर प्रयास किया गया है ।

1922 में असहयोग आन्दोलन की समाप्ति पर कांग्रेस के सम्मुख

नये प्रश्न उठ खड़े हुए और उन्हीं के अनुरूप उसे आन्दोलनात्मक संघर्ष के स्थान पर संवैधानिक राजनीति अपनानी पड़ी । यह परिवर्तन कांग्रेस के सभी नेताओं को स्वीकार नहीं हुआ । उदाहरण के लिये, गांधी जी, डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी आदि कांग्रेसी नेताओं ने असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद भी संवैधानिक राजनीति को अपनाना उचित नहीं समझा । परन्तु कांग्रेस में एक वर्ग ऐसा भी उभरा जिसने नयी परिस्थितियों के अनुसार कांग्रेस के सम्मुख नया विकल्प रखा । सी0आर0दास और मोती लाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य दल का गठन किया गया और इनके कौंसिल बहिष्कार की नीति के स्थान पर कौंसिल प्रवेश की नीति अपनायी । कांग्रेस के जो नेता स्वराज्य दल की नीतियों में विश्वास करते थे, उन्होंने 1923 और 1926 के निर्वाचनों में भाग लिया और वे प्रान्तीय और केन्द्रीय विधायिकाओं में गये । कौंसिल प्रवेश की स्वराज्यदल की नीति का आधार था, संवैधानिक उपायों से राष्ट्रीय संघर्ष को गतिशील रखना । चितरंजन दास ने गया कांग्रेस की अध्यक्षता करते हुए उन्नीस सौ बाइस में अपने अध्यक्षीय भाषण में संवैधानिक राजनीति की व्याख्या इस प्रकार की --

"मेरा विचार है कि सुधार योजना द्वारा गठित कौंसिलें भारतीय

राष्ट्र की प्रकृति और इसकी क्षमता के बिल्कुल विपरीत है । ब्रिटिश संसद का यह प्रयास है कि भारतीयों पर एक विदेशी व्यवस्था थोपी जाय .... इन कौंसिलों के बहिष्कार करने के दो ही तरीके हैं या तो उन्हें स्वराज्य की नीतियों के अनुसार बदला जाय अथवा उन्हें समाप्त कर दिया जाय "।

सी॰आर॰दास इस नीति को स्पष्ट कर रहे थे कि कौंसलों में प्रवेश करके प्रान्तीय विधानसभाओं में व्यापक बदलाव लाने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला जाय । इसी लक्ष्य को ध्यान में रख-कर स्वराज दल ने प्रान्तीय और केन्द्रीय विधानसभाओं में प्रवेश किया और इनके माध्यम से उन्नीस सौ उन्नीस के संविधान में व्यापक परिवर्तनों की मांग की । उनके लगातार संघर्ष के कारण संवैधानिक परिवर्तनों का प्रश्न देश के सम्मुख छाया रहा ।

उन्नीस सौ सत्ताइस में कांग्रेस के सम्मुख संवैधानिक परिवर्तनों का प्रश्न नये रूप में आया क्योंकि नवम्बर उन्नीस सौ सत्ताइस में साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा कर दी गयी । यह कांग्रेस के लिये एक खुली चुनौती थी । इसने अनेक नीतिगत प्रश्न खड़े कर दिये । सबसे आपत्ति-जनक पहलू इस कमीशन का यह था कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था का

आंकलन करने के लिये जो उच्च अधिकार प्राप्त कमीशन नियुक्त किया गया था, उसमें किसी भी भारतीय को इसका सदस्य नहीं बनाया गया । इसका दूसरा आपत्तिजनक पहलू यह था कि एक बार फिर भारत में एक आरोपित संवैधानिक व्यवस्था प्रभावी करने की प्रक्रिया आरम्भ की गयी । परंपरागत ब्रिटिश नीति का अनुसरण करते हुये सात ब्रिटिश सदस्यों को साइमन कमीशन के रूप में भारत भेजा गया और उन्हें उन्नीस सौ उन्नीस के संविधान के क्रियान्वयन और इसके संशोधन का उत्तरदायित्व सौंपा गया । कांग्रेस की आपत्ति यह थी कि तत्कालीन संवैधानिक व्यवस्था की आलोचना करने के कार्य से उसे दूर रखा गया था ; अधिक से अधिक कांग्रेस सेसलाह ली जा सकती थी और उसे भी स्वीकारना अथवा अस्वीकारना साइमन कमीशन के सदस्यों पर निर्भर था । कांग्रेस ने साइमन कमीशन की नियुक्ति और इसकी कार्यवाही का विरोध करते हुए इसका बहिष्कार किया ।

इसी समय कांग्रेस ने एक सकारात्मक निर्णय भी लिया ; यह था एक समिति का गठन जिसे ऐसे संविधान के प्रारूप की संरचना का कार्य सौंपा गया जिसको कांग्रेस के साथ-साथ सभी राजनीतिक दल स्वीकार करते हो । इसी कारण मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में जो नेहरू - रिपोर्ट तैयार की गयी, वो कांग्रेस द्वारा तैयार किया गया पहला और व्यापक संवैधानिक प्रारूप था । इसकी चर्चा यथास्थान प्रस्तुत करके इस

अध्ययन में इसके महत्व का आंकलन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि कांग्रेस की ओर से एक लचीला रूख अपनाया गया और सभी का सहयोग प्राप्त करने के उपाय किये गये । नेहरू रिपोर्ट के प्रस्तुत करने के उपरान्त उठे विवादों के कारण यह प्रारूप केवल कागज पर ही बना रहा लेकिन इसने भावी कठिनाइयों का संकेत दे दिया था। नेहरू रिपोर्ट पर हुये वाद विवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि संवैधानिक प्रश्नों पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के विचार पर्याप्त भिन्न थे । यदि कांग्रेस के नेताओं ने इस समय कोई सबक सीख लिया होता तो भविष्य में उपजने वाली अनेक राजनीतिक और संवैधानिक गुत्थियों को सुलझाने में सहायता मिल सकती थी ।

कांग्रेस द्वारा लगातार दबाव बनाये रखने का परिणाम यह हुआ कि भावी संवैधानिक व्यवस्था के विषय में निर्णय करने के पूर्व ब्रिटिश सरकार ने उच्च स्तरीय सम्मेलन आयोजित किया । यह सम्मेलन गोलमेज सम्मेलन के रूप में जाना गया और इस प्रकार के तीन सम्मेलन उन्नीस सौ तीस से उन्नीस सौ बत्तीस के बीच हुये । कांग्रेस ने केवल दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया और एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधी जी लन्दन गये । इन गोलमेज सम्मेलनों से कांग्रेस की दुविधा प्रकट होती है । एक ओर कांग्रेस पूर्ण स्वराज के लिये संघर्ष कर रही थी और दूसरी ओर कांग्रेस दूसरे गोलमेज

सम्मेलन में भाग लेने को तैयार हो गयी । यथास्थान यह विवेचन करने का प्रयास किया गया है कि कांग्रेस का यह निर्णय कहाँ तक तर्क संगत था और क्या कांग्रेस को कुछ हाथ लगने की सम्भावना थी। ब्रिटिश सरकार के रूख में इस समय तक कोई परिवर्तन नहीं आया था और इस कारण उसने कांग्रेस विरोधी शक्तियों को प्रोत्साहित करने की नीति अपनायी ।

उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम के घोषित किये जाने के पूर्व सरकार ने केवल कांग्रेस से परामर्श करने का सीमित उपाय किया था । इससे अधिक कांग्रेस के दृष्टिकोण को समझने के प्रयास नहीं किये गये । कांग्रेस की ओर से अधिनियम के प्रति जो आपत्तियाँ प्रकट की गयीं ; उसके बाद भी इसे स्वीकृत करके ब्रिटिश सरकार ने यह सिद्ध कर दिया कि वह उस समय तक भी संवैधानिक परिवर्तन की पूरी बागडोर अपने हाथ में रखना चाहती थी।

उन्नीस सौ पैंतीस के अधिनियम के पारित होने के पश्चात् जवाहर-लाल नेहरू ने कठोर शब्दों में कांग्रेस की निराशा को व्यक्त किया और इस अधिनियम की आलोचना की । एक समय तो ऐसा लगा कि कांग्रेस इस अधिनियम को भी उसी प्रकार से अस्वीकृत कर देगी जिस प्रकार से उसने आरम्भ में उन्नीस सौ उन्नीस के अधिनियम को अस्वीकृत कर दिया था।

लेकिन कांग्रेस ने पूर्ण विरोध करने के स्थान पर प्रस्तावित संवैधानिक व्यवस्था द्वारा उपलब्ध प्रणाली में भागीदारी करने की नीति अपनायी । इससे यह सिद्ध हुआ कि एक बार कांग्रेस फिर संवैधानिक राजनीति की ओर मुड़ी । उसने 1937 के चुनावों में केवल भाग ही नहीं लिया बल्कि विभिन्न प्रान्तों में मंत्रिमण्डल भी बनाये । इससे कांग्रेस की भागीदारी और 1935 के संविधान को कार्यरूप देने में उसकी सहमति के प्रमाण मिले । जो राजनीतिक-दल लगातार संघर्ष कर रहा था, उसने लगभग दो वर्षों के कार्यकाल में प्रशासन की बागडोर संभालकर यह भी प्रमाणित किया कि वह संवैधानिक कार्यवाही को गति प्रदान करने को तैयार थी ।

1939 से 1947 के बीच के वर्षों में संवैधानिक परिवर्तन से जुड़े हुये प्रश्न भारतीय राजनीति पर छाये रहे । ये ऐसे निर्णायक वर्ष थे जो इस देश के इतिहास में दीर्घकाल तक चर्चा के विषय बने रहे । जैसे ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ । गवर्नर जनरल ने अपनी ओर से भारत को युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी । इससे कांग्रेस को धक्का लगा । उसने कभी यह आशा नहीं की थी कि भारत सरकार उसकी इतनी उपेक्षा करेगी । अपनी अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए कांग्रेस ने प्रान्तीय सरकारों से त्यागपत्र दे दिये । परिणाम यह हुआ कि 1935 के अधिनियम द्वारा जो प्रान्तीय स्वायत्तता का प्रयोग आरम्भ

हुआ था वह कुछ वर्षों में ही समाप्त हो गया ।

कांग्रेस मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र इस तथ्य का द्योतक था कि यह राष्ट्रीय संगठन अब ब्रिटिश सरकार से टक्कर लेने का मन बना रहा था और उसने देश के भविष्य पर दो टूक निर्णय करने का आग्रह भारत सरकार से किया । तत्कालीन संवैधानिक सुधार की मांग के अतिरिक्त कांग्रेस ने दूरगामी सुधारों की भी मांग की । इस प्रकार कांग्रेस का कहना था कि वह युद्ध प्रयासों में उसी स्थिति में शामिल होगी जब कुछ मूलभूत संवैधानिक परिवर्तनों के लिए भारत सरकार तुरन्त राजी हो । परन्तु कांग्रेस को ऐसे कोई भी आश्वासन नहीं मिले ।

उन्नीस सौ ब्यालीस में क्रिप्स मिशन का भारत भेजा जाना ब्रिटिश सरकार के लिये एक विवशता थी क्योंकि युद्ध की स्थिति निरन्तर बिगड़ रही थी, अन्तर्राष्ट्रीय दबाव बढ़ रहा था और कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ औपचारिक उपाय करने की आवश्यकता थी। हमारा निष्कर्ष यह है कि इस समय तक भी ब्रिटिश सरकार भारत में कोई वास्त-विक संवैधानिक परिवर्तन करने के स्थान पर कुछ दिखावे के संवैधानिक उपाय करने के इरादे रखती थी। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार ने एक और खतरनाक खेल खेलना आरम्भ कर दिया था। उसने मुस्लिम लींग

को कांग्रेस के विरोध में भड़काया । उसे प्रोत्साहित किया और उसके देश विभाजन की मांग के प्रति सहानुभूति जतायी । इन परिस्थितियों में जब स्टैफर्ड क्रिप्स ने केवल भविष्य की बात की तो संवैधानिक प्रश्नों की गुत्थी सुलझने के स्थान पर और भी उलझ गयी ।

कांग्रेस का धैर्य अब सीमायें पार करने लगा था। उसने भारत छोड़ो आन्दोलन आरम्भ करके अंग्रजों को भारत से चले जाने को ललकारा । एक विशाल जन आन्दोलन अनेक वर्षों तक चला जिसका एक मात्र उद्देश्य था - अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश करना । विशाल जन आन्दोलन को देखकर भारत सरकार हिल उठी । आन्दोलन को तो पुलिस और सेना की शक्ति से दबा दिया गया परन्तु ब्रिटिश अधिकारियों को यह भली भांति ज्ञात हो गया कि उनके साम्राज्य का भारत में अस्तित्व समाप्त होने में अधिक समय नहीं है ।

यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि उन्नीस सौ ब्यालीस के भारत छोड़ो आन्दोलन के परिणामस्वरूप भारत सरकार और ब्रिटिश सरकार को कांग्रेस की शक्ति का अनुमान हो गया था । वायसराय ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा कि कांग्रेस जब चाहे प्रशासन को ठप्प कर सकती थी और कांग्रेस के सहयोग के बिना शासन का संचालन ब्रिटिश सरकार के लिये सम्भव नहीं था।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन में हुए सामान्य निर्वाचनों में चर्चिल की पराजय और श्रमिक सरकार के सत्ता में आने से संवैधानिक परिवर्तनों का निर्णायक दौर आने में विलम्ब नहीं हुआ । एक बार फिर तीन सदस्यीय कैबिनेट मिशन भारत आया और उसके प्रस्तावों के अनुसार दो मुख्य निर्णय लिये गये । पहला निर्णय यह था कि भारतीय राजनीतिक दलों के सहयोग से वायसराय की कार्यकारिणी गठित करके अन्तरिम सरकार की स्थापना की गयी । जवाहरलाल नेहरू, अन्तरिम सरकार के प्रधानमंत्री बने । द्वितीय महायुद्ध के पूर्व कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि भारतीय राजनीतिक दलों को इतने व्यापक अधिकार देकर उच्च स्तरीय प्रशासन में उनका सहयोग मांगा जायेगा । इससे कांग्रेस का मनोबल बढ़ा और उसे यह स्पष्ट संकेत मिले कि संवैधानिक परिवर्तनों का निर्णायक दौर आ चुका था ।

दूसरा निर्णय था - अनेक वर्षों से कांग्रेस एक और मांग लगातार करती आ रही थी। यह भी भारतीयों को स्वयम् संविधान निर्माण का अधिकार मिले । कांग्रेस का कहना था कि भारतीय प्रतिनिधियों को स्वयम् संविधान निर्माण की स्वतन्त्रता होनी चाहिये । कांग्रेस ने संविधान-सभा की मांग लगातार की और अन्ततः उन्नीस सौ छियालिस में कांग्रेस की इस मांग को स्वीकार किया जाना उसकी विजय थी और परिवर्तित

परिस्थितियों का द्योतक थी ।

1946 और 1947 में जब संवैधानिक प्रश्न लगातार महत्वपूर्ण होता चला गया तो आवश्यकता थी-- भारतीय राजनीतिक दलों के एकमत होने की; विशेष रूप से कांग्रेस और मुस्लिम लीग के समान दृष्टिकोणों की । परन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त संवैधानिक प्रश्नों को लेकर जो भी वार्तायें आयोजित की गयी, उनमें इन दोनों दलों ने एक-दूसरे के विरुद्ध ही दृष्टिकोण अपनाया । अन्तरिम सरकार के गठन का प्रश्न और संविधान सभा की कार्यवाही का प्रश्न लगातार उलझता चला गया तथा देश के दो प्रमुख राजनीतिक दल आपस में कोई समझौता न कर सके । इसका एक कारण था - भारत सरकार और ब्रिटिश सरकार की भूमिका जिन्होंने कांग्रेस और मुस्लिम लीग को निकट लाने में कोई भूमिका नहीं निभाई बल्कि उनके मतभेदों को बढ़ाने का ही कार्य किया ।

फरवरी 1947 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की सत्ता हस्तान्तरण की घोषणा के साथ भारत में राजनीतिक सरगर्मी और भी तेज हुयी । सत्ता हस्तान्तरण को गति प्रदान करने के लिए एक नये वायसराय को भारत भेजा गया । माउण्टबेटन के संक्षिप्त कार्यकाल में संवैधानिक परिवर्तनों के महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये । पेचीदा प्रश्न यह था कि सत्ता हस्तान्तरण को देश के विभाजन के प्रश्न से जोड़ दिया गया । परिस्थिति की गंभीरता को देखते हुए कांग्रेस ने देश के विभाजन को स्वीकार कर लिया और पन्द्रह अगस्त 1947 को भारत स्वतन्त्र हो गया ।

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रीय संघर्ष के दौरान कांग्रेस ने संवैधानिक परिवर्तनों पर लगातार चर्चा की और अपने दृष्टिकोण के विषय में समय-समय पर उच्च स्तर पर विचार किया । एक ओर कांग्रेस ने संवैधानिक अधिनियमों का विरोध किया, उनकी आलोचना की तो दूसरी ओर अधिनियम द्वारा उपलब्ध संवैधानिक ढांचे में अपनी भूमिका निभाने में भी कांग्रेस पीछे नहीं रही । 1923 से 1928 तक और 1934 से 1939 तक कांग्रेस ने संवैधानिक राजनीति का सहारा लिया । इससे यह प्रकट होता है कि जैसी भी संवैधानिक स्थिति थी, उसमें रहकर कांग्रेस ने अपनी भूमिका निभाई । लेकिन इसके अतिरिक्त कांग्रेस कुछ मूल संवैधानिक सिद्धान्तों के प्रति लगातार आस्थावान रही और कांग्रेस के मंचों से बार-बार आधार भूत संवैधानिक परिवर्तनों पर जोर दिया गया । प्रतिनिधि शासन प्रणाली, सभी को मतदान करने का अधिकार, ब्रिटिश संसद के समान अधिकार रखनें वाली केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभायें शक्तिशाली केन्द्रीय शासन, मौलिक अधिकारों की व्यवस्था, अल्पसंखयकों और निर्बल वर्गों के व्यापक सुरक्षा के अधिकार आदि अनेक प्रश्नों पर कोंग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं ने निश्चित विचार बना लिये थे ।

1947 में जब देश स्वतन्त्र हुआ और कांग्रेस के

नेतृत्व में संविधान सभा तुरन्त ही नये संविधान की संरचना में जुट गयी तो कांग्रेस ने संविधान निर्माण के प्रश्न को दल का प्रश्न नहीं बनाया । यह एक नीतिगत निर्णय था तभी तो संविधान का प्रारूप तैयार करने वाली सात सदस्यीय समिति में केवल एक सदस्य कांग्रेस दल का था। यह अवश्य है कि कांग्रेस दल ने संविधान सभा में और उसकी संरचना में तथा उसका स्वरूप निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई लेकिन इसे दलगत राजनीति का प्रश्न नहीं बनाया गया ।

कांग्रेस के जिन नेताओं को संविधान की संरचना का भार सौंपा गया और जिन्होंने संविधान सभा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उनमें से अधिकतर उदारवादी विचारधारा के व्यक्ति थे । इन्हें पश्चिम के संविधान के प्रति आस्था थी। ये उन मूल्यों के प्रशंसक थे जो पश्चिम के देशों में अनेक दशकों से जनजीवन को प्रभावित कर रहे थे । ऐसी स्थिति में प्रायः अंग्रेजी पढ़े लिखे तथा ब्रिटिश संसदीय परंपरा के प्रति आस्थावान कांग्रेस जनों ने भारत में ऐसी लोकतन्त्रीय व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया जिसमें प्रत्येक भारतीय को सम्मान प्राप्त हो, उसका जीवन सुरक्षित हो और उसके नागरिक अधिक बहाल रहें ।

B I B L I O G R A P H Y

BOOKS

Anil, Seal : The Emergence of Indian & Nationalism, Cambridge, 1968.

Alexander, Horace : India Since Cripps, London, 1944.

Alexandrowicz, C.H. : Constitutional Development in India, Bombay, 1957.

Ashraf, Mohammad :: Cabinet Mission and After.

Appadorai, A. : Dyarchy in Practice, London, 1937

Azad, A.K. : India Wins Freedom, Calcutta, 1959.

Banerjee, S.N. : A Nation in Making, Calcutta, 1963.

Banerjee, A.C. : The Constitutional History of India 3 Vols., Meerut, 1978.

Banerjee, A.C. : The making of the Indian Constitution, Calcutta, 1948.

Banerjee, A.C. : Indian Constitutional Documents, 3 Vols. Calcutta, 1950.

Besant, Annie : How India Wrrought for Freedom, Madras, 1915.

Bose, Subhas Chandra : The Indian Struggle, 1920-1942, Calcutta, 1963.

Bomb Wall, K.R. : Indian Politics and Government, (since 1885) Delhi, 1961.

Brown, Judith M. : Gandhi's Rise to Power Indian Politics 1915-1922, Cambridge, 1972.

Brown, Judith M. : Gandhi and Civil Disobedience 1928-34, Cambridge, 1977.

Bipan Chandra : India's Struggle for Independence, 1857-1947, New Delhi, 1989.

Bansal, Usha Rani : U.P. Under Provincial Autonomy (1937-1939) Varanasi, 1988.

Bhagwan, Vishnoo : Constitutional History of India Part I, 1971, Delhi.

Bose, S.M. : The Working Constitution of India, Calcutta, 1939.

Breecher, M. : Nehru, a Political Biography London, 1959.

Chatterji, Amiya : The Constitutional Development in India 1937-1947, Calcutta, 1958.

Chintamani, C.Y. : Indian Politics Since the Mutiny, London, 1940.

Chintamani, C.Y. and Masani, M.R. : Indian's Constitution at work, Bombay, 1940.

Churchill, W.S. : The Second World War, Vol. IV, London, 1955.

Collins, Larry, and Lapierre, Dominique : Freedom at Midnight, New Delhi, 1976.

Coupland, R. : The Cripps Mission, oxford, 1942.

Coupland, R. : Constitutional Problem in India, Part I, III, London, 1944.

Coupland,R. : India; A Retrospect, London, 1945.

Curtis, L. : Dyarchy, London, 1920.

Dean, V.M. : New Pattern of Democracy in India, Bombay, 1959.

Desai, A.R. : Social Background to Indian Nationalism. Bombay, 1948.

Durgadas, : India from Curzon to Nehru and After, London, 1969.

Dwarkadas, Kanji : India's Fight for Freedom, Bombay, 1966.

Edwardes, M. : Last Years of British Rule in India, London, 1963.

Ghosh, S. : Congress Presidential Speeches, Calcutta, 1972.

Gandhi, M.K. : My Experiments with Truth, Washington, 1948.

Gopal, S. : Jawaharlal Nehru, a Biography, Vol. I, Oxford, 1975.

Ghosh, P.C. : The Development of the Indian National Congress, Calcutta, 1960.

Ghosh, Shankar (ed) : Congress Presidential speeches, Calcutta, 1976.

Johnson, Gordon : Provincial Politics and Indian Nationalism, Cambridge, 1973.

Gwyer, M.& Appadorai, A. : Speeches and Documents on the Indian Constitution 1921-47, 2 Vols., London, 1957.

Hale, H.W. : Politica Trouble in India 1917-37, Allahabad, 1974.

Handa, R.L. : Rajendra Prasad, Twelve years of Triumph and Defeat, New Delhi, 1977.

Horne, E.A. : Political System of British India, London, 1922.

Irwin, Lord : Speeches, 2 Vols, Simla, 1930-31.

Iqbal, Muhammad : The struggle for Independence, 1858-1947, Karachi, 1958.

Kapur, A.C. : Constitutional History of India, New Delhi, 1970.

Kaushik, P.D. : The Congress Ideology and Programme 1920-47, Bombay, 1964.

Keith, A.B. : Constitutional History of India, London, 1936.

Krishna, K.B. : The Problem of Minorities, London, 1939.

Keralaputra : The working of Dyarchy in India, Bombay, 1928.

Khan, Aga : Memoirs, London, 1954.

Linlithgow, Marquess of : Speeches and Statements, 1936-43, New Delhi, 1945.

Lovett, V. : A History of the Indian Nationalist Movement, London, 1921.

Majumdar A.K. : Advent of Independence, Bombay, 1963.

Mansergh. N. (ed) : The Transfer of Power, Vols. I-VII, London, 1970-77,

Masaldan, P.N. : The Evolution of Provincial Autonomy in India 1858-1950, Bombay, 1953.

Menon, U.P. : Montagu Chelmsford Reforms, Bombay, 1965.

Misra, B.B. : Administrative History of India, Bombay, 1970.

Mitra, N.N. (ed) : The Indian Annual Register, Annual issues, Calcutta, 1937-1940.

Moon, P. : Divide and Quit, London, 1961.

Mosley, L. : The Last Days of the British Raj, London, 1961.

Mukherjee, P.B. : The Indian Constitution : Change and challenge, Calcutta, 1976.

Mishra, B.B. : The Indian Political Parties Delhi, 1976.

Majumdar, R.C. : History of The Freedom Movement in India, Vol. III, Calcutta, 1963.

Mclane, J.R. : Indian Nationalism And The Early Congress, Princeton, 1977.

Mehrotra, S.R. : The Emergence of the Indian National Congress New Delhi, 1972.

Mukherjee, P. : Indian Constitutional Documents, Calcutta, 1956.

Menon, V.P. : The Transfer of Power, Madras, 1968.

Moore, R.J. : The Crisis of Indian Unity, Oxford, 1974.

Munshi, K.M. : The End of an Era, Bombay, 1957.

Munshi, K.M. : Pilgrimage to Freedom, 2 Vols., Bombay, 1967.

Nanda, B.R. : Mahatma Gandhi, A Biography, Boston, 1958.

Nanda, B.R. : Gokhale, Delhi, 1977.

Nehru, Jawaharlal : An Autobiography, London, 1936.

Nehru, Jawaharlal : The Discovery of India, Calcutta, 1946.

Nehru, Jawaharlal : Unity of India (London, 1941).

Panikker, K.M. & Prashad (edr.) : The Voice of Freedom, Bombay, 1961.

Phillips, C.H. (ed) : The Evolution of India and Pakistan, 1858-1947, London, 1962.

Prasad, Bisheswar : Orifin of Provincial Autonomy, Allahabad, 1941.

Prasad, Rajendra : India Divided.

Punniah, K.V. : The Constitutional History of India, Delhi, 1964.

Phillips, C.H. and Wainwright, M.D. (ed) : The Partition of India, London, 1970.

Prasad, Beni : Hindu Muslim Questions, Allahabad, 1941.

Pyarelal : Mahatame Gandhi : The Laste Phase, 2 Vols., Ahmedabad, 1956,1958.

Pylee, M.V. : Constitutional Government in India, Bombay, 1960.

Pandey, B.N. (ed) : A Centenary History of the India National Congress, Vol. I,II,III, New Delhi, 1985.

Rai Vijai Shankar : The Last Phase of the Transfer of Power in India, New Delhi, 1990.

Rajput, A.B. : The Cabinet Mission, Lahore, 1964.

Rao, B.N. : Indiah's Constitution in the making, Bombay, 1960.

Robbs, P.G. : The Government of India and Reforms, London, 1976.

Singh, Parduman : Lord Minto & Indian Nationalism, Allahabad, 1976.

Singh, Hiralal : Problems and Policies of India, Bombay, 1963.

Sapre B.G. : The Growth of Indian Constitution and Administration, Bombay, 1969.

Singh G.N. : Landmarks in Indian National and Constitutional Development, Delhi, 1955.

Srinivasan, N. : Democratic Government in India, Madras, 1954.

Sharma, J.S. : India's Struggle for Freedom, Selected Documents and Sources, Delhi, 1962.

Singh Roy, B.P. : Parliamentary Government in India, Calcutta, 1943.

Sitaramayya, P. : The History of the Indian National Congress, 2 Vols., Bombay, 1946-47.

Tendulkar, D.G. : Mahatma, Volume 1 to 3, Delhi, 1961.

Tara Chand, : History of Freedom Movement in India, 4 Vols., Delhi, 1957 to 1970.

Wattal, P.K. : Speeches, 1943-47, New Delhi, 1948.

Zaidi, A.M. : A Century of State Craft In India, New Delhi, 1985.

Zaidi, A.M. & Zaidi, S.C. (eds) : The Encyclopaedia of The Indian National Congress, Vol. I to Vol. XVIII, New Delhi, 1979 to 1985.